सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन अज्ञात लेखकों की स्मृति में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन के निर्माण के लिए नींव में दब गईं।

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन अज्ञात लेखकों की स्मृति में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन के निर्माण के लिए नींव में दब गईं।

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शाङ्कर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जो मथन किया है उससे यह वक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात व्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबंध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये व्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की व्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि व्रजभाषा मे सगुण भक्ति का काव्य व्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबंध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का व्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरम हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व व्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती व्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शांकर मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जो मथन किया है उससे यह वक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबंध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबंध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरभ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओ से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानो के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रेमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेशी और भाषा विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के संधान की आशा से परिचालित होते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलवती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक के ब्रज साहित्य का संधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अविज्ञात भांडारों में हो सकता था जो अद्यावधि अव्यवस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५२ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य के संधान का यह कार्य मुझे सौंपा था मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशान्वित जरूर था, किन्तु अपनी सीमित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों में से सूरपूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अवाच्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकेलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेहहीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सम्मान्य संचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के संचालक श्री अगरचन्द नाहटा, श्रीयुत मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो ब्रजभाषा की इस लुप्त कड़ी को जोड़ने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूरपूर्व ब्रजभाषा से संबद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना संभव नहीं है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के समय परवर्ती ब्रजभाषा से उसके संबंधों का निरूपण करते समय डा० धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सज्जनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यल्प अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रेमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेशी और भाषा विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के संधान की आशा से परिचालित होते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलवती नहीं हुई क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक के ब्रज साहित्य का संधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अविज्ञात भांडारों में हो सकता था जो अद्यावधि अव्यवस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय में अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के संधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशान्वित जरूर था, किन्तु अपनी सीमित शक्ति और भाडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों में से सूर पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अवाच्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकेलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह हीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सम्मान्य संचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के संचालक श्री अगरचन्द नाहटा, श्रीकुंज मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भाडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो ब्रजभाषा की इस त्रुटित कड़ी को जोड़ने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी संभव न हो पाता।

हस्तलेखों में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर पूर्व ब्रजभाषा से संबद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना संभव नहीं है। सूर पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के समय परवर्ती ब्रजभाषा से उसके संबंधों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सज्जनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

पद रचना का आरम्भ, १६७–ग्वालियरी भाषा . क्या अलग भाषा थी–मिर्जा खा के व्याकरण में ग्वालियरी ब्रजभाषा के अन्तर्गत मानी गई, ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग, १६८–१७० ।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११), १७१, कवि, परिचय, रचना, काव्य-वस्तु, १७२–१७३—जाखू मणियार का हरिचन्द पुराण (विक्रमी १४५३), १७४, रचनाकाल भाषा और साहित्य का परिचय १७५, विष्णुदास (सवत् १४९२), कवि परिचय, रचनायें और भाषा १७६–१७८, कवि दामों की ल्दमणसेन पद्मावती कथा (वि० १५१६) हस्तलेख परिचय, रचनाकाल, आदि का विवरण, १७९, कथा-वस्तु १८०–१८१, डूँगर बावनी (वि० १५३८) १८२–१८३, मानिक कवि की वैताल पचीसी (विक्रमी १५४९) १८४–१८५, कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०) रचना भाषादि, १८६, छिताई वार्ता (विक्रमी १५५० के लगभग) रचनाकार, काल निर्णय, भाषा-साहित्य १८७–१८९, थेघनाथ की गीता-भाषा (विक्रमी १५५७) परिचय, १९०–१९१, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५७ सवत् के लगभग) परिचय और काल निर्माण १९२, चतरुमल का नेमिश्वरगीत (सवत् १५७१), १९३—धर्मदास का धर्मोपदेश (सवत् १५७८), १९४—छीहल (१५७८) रचनाएँ, पञ्चसहेली और बावनी की प्रतियाँ काव्य भाषादि १९५–१९८—वाचक सहज सुन्दर का रतनकुमार रास (१८२ सवत्) १९९ ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

गुरुग्रन्थ के ब्रज कवि, २००—नामदेव, कवि परिचय, रचनाकाल, रचनायें-भाषा २०१–२०२—त्रिलोचन, परिचय और रचना २०३—जयदेव, गुरु ग्रन्थ के पद, प्राकृतपैंगलम् के पदों से इनकी भाषा की तुलना, जीवनवृत्त, २०४—वेनी, २०५—सधना, २०६—रामानन्द, जीवन वृत्त, रामानन्द की हिन्दी रचनायें, २०७–२०८—कबीर की भाषा, २०९–२१२—रैदास कवि परिचय, पद, प्रह्लादचरित, भाषा, २१३–२१५—पीपा, २१६—धन्ना भगत, २१७—नानक—जीवन वृत्त, पजाबी और ब्रज रचनाओं का निर्णय, २१८–२१९ ।

अन्य कवि

हरिदास निरञ्जनी, निरञ्जन सम्प्रदाय का परिचय, कवि, काल निर्णय, हस्तलेखों के आधार पर जन्मतिथि का निर्धारण—रचनायें, भाषा, २१०–२२०—निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि, २२१—श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम देव का काल निर्धारण, २२२—विप्रमतीसी का लिपिकाल, परशुराम वाणी का रचनाकाल—परशुराम सागर की रचनायें विप्रमतीसी से कबीर की इसी नाम की रचना का साम्य, काव्य और भाषा, २३२३–२५—तत्ववेत्ता, २२७—नरहरि भट्ट जीवन वृत्त रचना-काल-नरहरि भट्ट की भाषा–ध्वनि और रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ, २२८–२३४—मीराबाई, जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध का निष्कर्ष, २३५—मीरां के गीतों की भाषा, २३६—रचनायें, २३७—सगीतकार कवियों की रचनायें—सगीत और ब्रजभाषा, २३८—खुसरो, जीवन वृत्त, रचनायें भाषा, २३९–२४०—गोपाल नायक—काल निर्णय

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

अन्य कवि

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।[1] अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्ज्या ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

---

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।[1] अष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्ज्या ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

---

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।[1] वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'संदेहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का संकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'[2] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'[3] हालां कि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हदतक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[4] डा० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिलकुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।[5]

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-संकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अपभ्रंश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

---

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२ वही पृ० २१–२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८६

5 Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।[1] वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सदेहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का सकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'[2] डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'[3] हालाकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकाश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हदतक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[4] डा० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।[5]

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-सकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अपभ्रंश तक प्राय. अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

---

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० ३०
२ वही पृ० २१–२२
३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० ११५
४. वही पृ० १८१
5 Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिन्दवी' के नाम से चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय जनता की ओर से कोई बड़ा प्रोत्साहन न मिला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पष्ट अन्य बोलियों द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अन्धकार युग को प्रकाशित करने वाली जो भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है।'[1]

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धों के गानों (दोहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिंदु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधार कहा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दोहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दोहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था और न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को ढूँढने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जो भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दोहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० २५

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिन्दवी' के नाम से चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय जनता की ओर से कोई बड़ा प्रोत्साहन न मिला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पृष्ट अन्य बोलियों द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अंधकार युग को प्रकाशित करने वाली जो भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है।'[1]

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धों के गानों (दोहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिंदु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधार कहा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दोहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दोहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दोहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस संग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था और न तो इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को ढूँढने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जो भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दोहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० २५

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक परिनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओं में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिलता, नेमिनाथ चौपई, थूलिभद्दफागु आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजांकुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती सस्करणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं–१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ठ जन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनायें संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रश का ही एक परिनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओं में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिलता, नेमिनाथ चौपई, थूलिभद्दफागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजांकुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती संस्करणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं–१४वीं) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ठ जन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनायें संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुक्कड़ी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसन्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'[1] मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'[2] वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुक्कड़ी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। संतों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् संतों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'[3] नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मू० सं० १६५४, पृ २६७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १६४६ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुक्कड़ी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसन्त-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'[1] मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर व्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन व्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'[2] वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन व्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुक्कड़ी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी व्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. व्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। संतों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ सकलित हैं। व्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं में व्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की व्रजभाषा सूरदास की व्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् संतों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् व्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'[3] नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मु० सं० १९५४, पृ २६७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय सगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी सगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल इ खफीफ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल इ-सकील यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्किला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल इ अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराते हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्व के अध्ययन में बहुत बडा योगदान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए करतव (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविक्ख (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूजनीय
देव को नमत पूजें देवन के मति सित
देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमैं मन
देव को सुदीनों चित्त देवन को गृह वित
देव तें न दूजो साथी देवन सों बडो हू न
देव कौ रसिक दास देवन कौन गुन हित
देव में विरति नति देवन में सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की बारीकी नहीं है। फिर भी १६ वीं शताब्दी में लिखे होने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व नि सदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रिया-

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय संगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ पारसी संगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी पारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का संक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। पारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल इ सक़ीफ़ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल इ-सक़ील यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्किला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल इ अस्क़ल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराते हैं। फिर भी मिर्जा खाँ का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्व के अध्ययन में बहुत बड़ा योग-दान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए करतब (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविक्ख (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूजनीय
देव को नमत पूजें देवन के मति मित
देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमैं मन
देव को सुदीजो चित्त देवन को गृह वित
देव तें न दूजो साथी देवन सों बडो हू न
देव कौ रसिक दास देवन कौन गुन हित
देव में विरति नति देवन में सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की बारीकी नहीं है। फिर भी १६ वीं शताब्दी में लिखे होने के कारण इस व्याकरण का महत्व निःसंदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रियासत,

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। बीम्स ने अलग से पृथ्वी राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।[1] जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरी आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलाग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलाग के ब्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलाग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलाग ने परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलाग का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'बिहारीरत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने ब्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण और काम की चीज है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्रवर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लाग ब्रज' नामसे प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोडकर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं–१८वीं) तथा आधुनिक मौखिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बडे परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोलचाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में सकलित बोलियों के उदरणों और अन्त में सलग्न विस्तृत शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले ब्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई कडी जोडने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की ब्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

---

1. Notes on the grammar of Candabardai J R A S B 1873

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी व्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपमें, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में व्रजभाषा पर विचार किया। बीम्स ने अलग से पृथ्वी राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।[1] जिसमें व्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरी आदि ने भी व्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलाग ने हिन्दी व्याकरण में व्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलाग के व्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल को 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रहीं हैं। व्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलाग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलाग ने परसर्गों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलाग का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में व्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु व्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'बिहारीरत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने व्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'व्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण और काम की चीज है। व्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्रवर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए व्रजभाषा पर 'ला लाग व्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। व्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्त्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन व्रजभाषा (१६वीं–१८वीं) तथा आधुनिक लौकिक व्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से व्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक व्रज और बोलचाल की व्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सन्नद्ध विस्तृत शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

व्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले व्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई कड़ी जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की व्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

---

1. Notes on the grammar of Candabardai J R A S B 1873

ध्रुपद और विष्णुपद गानों में लौकिक शृंगार के वर्ण्य विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।[1]

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्त्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सी तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अपभ्रंश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य संतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन संतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी संतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००–१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढ़ियाँ और तत्गृहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्वर्ती वस्तु-तत्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस टूटी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुत्थियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

---

१. हकायके हिन्दी, अनुवाद : सैयद अतहर अब्बास रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१४

ध्रुपद और विष्णुपद गानों में लौकिक शृंगार के वर्ण्य विषयों को आध्यात्मिक ढग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।[1]

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्त्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ वी तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अपभ्रंश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य संतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन संतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी संतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००–१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढ़ियाँ और तनगृहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्वर्ती वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस टूटी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुत्थियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियों की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

---

१. हकायके हिन्दी, अनुवाद: सैयद अतहर अब्बास रिज़वी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१४

ब्रजभाषा का रिक्थ :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश[1] ब्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काँठे में अवस्थित यह प्रदेश अपनी महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है।[2] भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

---

1. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—
   (क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यत्प्राग्विनशनादपि।
   प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]
   (ख) विनय पिटक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजंगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।
   (ग) गरुण पुराण (११।५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुंतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किए गए हैं।
   (घ) सूत्र साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० कीथ का वैदिक इंडेक्स।
   (ङ) कामसूत्र की जयमंगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]
   (च) फाह्यान, अल्बेरुनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, संख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित।
2. (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
   स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ [मनु० २।२०]

ब्रजभाषा का रिक्थ :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश[1] ब्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काँठे में अवस्थित यह प्रदेश अपनी महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्त्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है।[2] भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

---

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिटक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजंगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुड़ पुराण (११५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुंतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० कीथ का वैदिक इंडेक्स।

(ङ) कामसूत्र की जयमंगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अल्बेरूनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, संख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२ (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ [मनु० २।२०]

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।[1] इसी भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इंदो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मन्त्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।[2] ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियों से लेकर पूरब में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मन्त्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।[3] किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गंगा-यमुना के काँठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मन्त्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आभिजात्य राजन्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तद्जीव और सभ्यता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'[4] मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है[5] किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।[6] यह मान्यता साधार भी कही

1 H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201, and Cambridge History of India vol I chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८,५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१–२४, ए० वी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेमर'

३. अवेस्ता के ईरानी आर्य मन्त्रों और ऋतुओं या उत्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेक्रड लैंग्वेज, राइटिंग्स ऐंड रिलीजन्स आव पारसीज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

4 Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५. यजुः संहिता २।२०

६. तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिक्षितम् यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (सांख्यायन या कौशीतकि ब्राह्मण ७।६)।

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।[1] इसी भाषा वस्तुत: मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इन्दो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सा में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मंत्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।[2] ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियों से लेकर पूरब में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पंचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।[3] किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गंगा-यमुना के काँठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आभिजात्य राजन्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहजीब और सभ्यता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'[4] मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है[5] किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुत: वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।[6] यह मान्यता साधार भी कही

1 H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201 and Cambridge History of India vol I chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८,५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१–२४, पृ० वी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेमर'

३. अवेस्ता के ईरानी आर्य मन्त्रों और ऋतुओं या उत्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेक्रेड लैंग्वेज, राइटिंग्स ऐंड रिलिजन्स आव पारसीज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

4 Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५ यजु संहिता २।२०

६ तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिक्षितम् यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (सांख्यायन या कौषीतकि ब्राह्मण ७।६)।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अछि, सिंधी अखि, बिहारी आँखि किन्तु हिन्दी आख। २–बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतर पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्त्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३–अइ>ऐ तथा अउ>ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विवृत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते है। ४–संस्कृत के च् ज् पूर्वी भाषाओं में त्स–स् तथा द्ज़–ज़ में बदल आते हे। ५–र् स्, तथा ड, ड के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहि. शाखाओं में स्पष्ट मालूम हो जाती है। ६–पूरब तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय हैं किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७–बाहरी भाषाओं में म्ब>म तथा भीतरी में म्ब>वँ में बदलता है। ८–र् का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९–स्वर मध्यग स>ह में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पडता है। १०–श, ष, स्>श् के रूप मागधी में दिखाई पडता है। ११–महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२–द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पडता है। रूप तत्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही है जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पडती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियाँ और परसर्ग के, का, ने, में आदि सज्ञा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।[1] क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिंदी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तवर्ती भाषाओं के व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषाको मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता व्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अछि, सिंधी अखि, बिहारी आँखि किन्तु हिन्दी आख। २–बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतर पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्त्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३–अइ>ऐ तथा अउ>ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विवृत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४–संस्कृत के न्द्, न्ब् पूर्वी भाषाओं में न्न–म् तथा द्ज–ज में बदल आते हैं। ५–र्, ल्, तथा ड, ड के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहि. शाखाओं में स्पष्ट मालूम हो जाती है। ६–पूरब तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय हैं किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७–बाहरी भाषाओं में म्ब>म तथा भीतरी में म्ब>वँ में बदलता है। ८–र् का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९–स्वर मध्यग स>ह में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०–श, ष, स्>श् के रूप मागधी में दिखाई पड़ता है। ११–महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२–द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही है जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियाँ और परसर्ग के, का, ने, में आदि संज्ञा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है।[1] क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित है, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिंदी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और संक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का संकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषाको मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विश्लिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के संकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य[1] भाषाओं में दिखाई पडती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (व्रज, अवधी) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पडता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय, चन्द्र>चन्द आदि रूप।[2] व्रजभाषा में प्रहर>पहर, प्रमाण>पमान, प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र् , र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल व्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलग; घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>बाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते हैं।'[4] वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोडकर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पडती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पडती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली[5] वस्तुत. वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से सपृक्त थी।

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।

२. वाधो रो लुक् , प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८

३. रलयोरभेद : पाणिनीय

4 Vedic Grammar IV Edition 1955 London p 284

५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण संवत् २००५, पृ० ६

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य[1] भाषाओं में दिखाई पड़ती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधी) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय, चन्द्र>चन्द आदि रूप।[2] ब्रजभाषा में प्रहर>पहर, प्रमाण>पमान, प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलंग; घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>बाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते हैं।'[4] वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती है। सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली[5] वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपृक्त थी।

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्‌गम और विकास पृ० २५२ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए है।
२. प्राधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८
३. रलयोरभेद : पाणिनीय
4 Vedic Grammar IV Edition 1955 London p 284
५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण संवत् २००५, पृ० ६

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रहीं थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह संकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्लू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा[1] के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।[2] 'बौद्ध भारत में गान्धार से बंगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पंजाब और संभवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्व में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्वाबे में।

---

1. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

2 Budhist India 1903 London pp 53 54

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रहीं थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह संकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा[1] के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।[2] 'बौद्ध भारत में गान्धार से बंगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पंजाब और सम्भवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वा में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्राविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के दाबे में।

---

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं
  (१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श
  (२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्
    (क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श
    (ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श
    (ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श
  (३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

2 Budhist India 1903 London pp 53 54

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को ढूंढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यहां प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ>अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत>कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहबाजगढ़ी)
मृग>मग (गिर०) मिग (कालसी) मुग (शाहबाजगढ़ी)
व्यापृत>व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहबाजगढ़ी)
एतादृश>एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहबाजगढ़ी)
भातृ>भ्रातु (शाह०मानसेरा) भाति (काल्सी)
पितृ>पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० धौली)
वृक्ष>ब्रछ (गिर०) रुछ (शाह० मा०) लुख (कालसी)
वृद्धि>वढि (गिर०) वढि (शाह०) वढ (कालसी)

संस्कृत धातु√दृश् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखलाई पड़ते हैं। गिसेया को थी केर्न (Kern) और श्रीहुल्तश (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी>पुठवी (धौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। व्रजभाषा का हिया<हृदय, पूछनो<पृच्छ्, पुहुमी<पृथ्वी, कियौ<कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। कैवर्त>केवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र>पोत (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण>पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि>पि, अप्यत्र>पियछ। अहकम्>हकम्, हम या हौं (व्रज)। अस्मि>मुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः>यशो, यसो या यसो भी। वयःत्र>यो। जनः>जने, प्रियः>पिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यंजन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन्>अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्यीकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते है। क्ष>छ, क्षण>छुण, मोक्ष>मोछ। त्य>च, आत्ययिक>आचयिक। द्य>ज, अद्य>अाज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य>अण। मन्य>मण। आज्ञप्>आ+णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को ढूंढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताएं यहां प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ>अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत>कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहबाजगढ़ी)
मृग>मग (गिर०) मिग (कालसी) मुग (शाहबाजगढ़ी)
व्यापृत>व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहबाजगढ़ी)
एतादृश>एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहबाजगढ़ी)
भातृ>भ्रातु (शाह०मानसेरा) माति (कालसी)
पितृ>पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० धौली)
वृक्ष>वछ (गिर०) रूछ (शाह० मा०) लुख (कालसी)
वृद्धि>वद्धि (गिर०) वढि (शाह०) वढ (कालसी)

संस्कृत धातु √दृश् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखों में दिखलाई पड़ते हैं। दिसेया को श्री केर्न (Kern) और श्रीहुल्त्श (Hultzsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी>पुठवी (धौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का हिया<हृदय, पूछनो<पृच्छ्, पुहुमी<पृथ्वी, कियौ<कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। कैवर्त>केवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र>पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण>पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि>पि, अप्यत्र>पियछ। अहकम्>हकम्, हम या हौं (ब्रज)। अस्मि>मुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः>यशो, यशो या यसो भी। बयःत्र>यो। जनः>जने, प्रियः>पिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन्>अस्ति। सघोष व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्यीकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। क्ष>छ, क्षण>छण, मोक्ष>मोछ। त्य>च, आत्ययिक>आचयिक। द्य>ज, अद्य>अाज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य>अण। मन्य>मण। आज्ञप्>आ+णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

बाद उनके उपदेशों के संग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिक्षु महाकस्सप प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजकुमार महेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।[1] साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईसवी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक कथाओं के आतंक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्थानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।[2] भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के आलेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र् शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के —ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयंकर रूप से लिया और संक्रान्ति काल से लेकर आजतक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, ब्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और बिहारी भाषाओं पर प्रभुत्व जमाये रही।'[3] हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, ये मात्र भाषिक स्थितिजन्य परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस पास के लोग आसानी से और ज्यादा संख्या में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

---

1 Origin and Developmant of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १६५७ पृ० १०५

३. ओरीजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट आव बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

बाद उनके उपदेशों के संग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिक्षु महाकस्सप प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजकुमार महेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।[1] साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्तानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।[2] भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के आलेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र_शब्दों, कर्त्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के —ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयंकर रूप से लिया और संक्रान्ति काल से लेकर आजतक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, व्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्तानी के रूप में पूर्वी और बिहारी भाषाओं पर प्रभुत्व जमाये रही।'[3] हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, ये मात्र भाषिक स्थितिजन्य परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस पास के लोग आसानी से और ज्यादा संख्या में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

---

1 Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ० १७५

३. ओरीजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट आव बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।[1] उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुल्लिंग रूप 'इमस्स', 'फल' का प्रथमा बहुवचन 'फला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भाडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिंग और नपुसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।[2] संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपों में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्त्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते है। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्त्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्थो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप है जिनका निर्माण आरंभिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भाडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्त्तमान रही है।[3] ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालो के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यस्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनायें इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते है। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्त्तमान मथुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

---

१. वही, पृ० ५७

२. वही, पृ० ५७

३. वही, पृ० ६३

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।[1] उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुल्लिग रूप 'इमस्स', 'फल' का प्रथमा बहुवचन 'फला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भाण्डारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुल्लिग और नपुंसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।[2] संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपों में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्त्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्थो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरंभिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भाण्डारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है।[3] ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यन्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनायें इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे, जन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मथुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

---

१. वही, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५७
३. वही, पृ० ६३

धिकारिणी है।[1] मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यग अघोष व्यञ्जनों का सघोष रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक 7 सुअ, शोक 7 सोअ, नदी 7 नई की विकास स्थिति में एक अन्तर्गत अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक विवृति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, घ' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' रोघ' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) द, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Intervocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवता विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवती रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत ने अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसग में डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटना का मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरब के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरब में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः स्त्रीवर्ग और असंस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।[2] जब कि इसी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीतों की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।[3] प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चमध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की बहन एवं विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[4]

---

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final decendent of the Maharastri prakrit

Comparative Grammar of Modern Aryan Languges 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भायाणी—वाग्व्यापार पृ० १२०—१३४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारो'

3 Like Brajbhasa in Northern Ind a from the 15 th century downwards, Maharastri became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period

Origin and development of Bangali Language p 86

४ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

विसारिणी है।[1] मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यग अघोष व्यञ्जनों का सघोष रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक 7 सुअ, शोक 7 सोअ, नदी 7 नई की विकास स्थिति में एक अन्तर्गत अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक विवृति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'घ, ध' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ,' रोघ' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) द, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Intervocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवता विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवता रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत ने अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटना का मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरब के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरब में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः स्त्रीवर्ग और असंस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।[2] जब कि इसी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीतों की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।[3] प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चमध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी, आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की बहन एवं विगतकाल की प्रतिरूपिणी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[4]

---

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final decendent of the Maharastri prakrit
Comparative Grammar of Modern Aryan Languges 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भायाणी—वाग्व्यापार पृ० १२०–१३४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारो'

3 Like Brajbhasa in Northern India from the 15 th century downwards, Maharastri became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period
Origin and development of Bangali Language p 86

४ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप को नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर सकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।[1]

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का ध में परिवर्तन (सूत्र २६० २६२-२७३-२७६)।

(ख) य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र > अय्यउत्त।

(ग) भू धातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरों के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया < कंचुकिन्, सुहिया < सुखिन्, राय < राजन, विययवम्मं < विजयवर्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, अदुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पढिय, पढिदूण, (√पठ्) कडुअ < √कृ और गडुअ < √गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि, स्स, या ह नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता य्येव, ण, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूढा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही सभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईसवी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

---

1. हेम व्याकरण, बम्बई संस्कृत और प्राकृत सीरीज़, १९३६

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पडती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप को नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर संकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।[1]

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का ध में परिवर्तन (सूत्र २६० २६२-२७३-२७६)।
(ख) य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र>अय्यउत्त।
(ग) भू धातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि।
(घ) व्यञ्जनान्तस्वरों के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया<कंचुकिन्, सुहिया<सुखिन्, राय<राजन, विययवम्मं<विजयवर्मन्।
(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, अडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पढिय, पढिदूण, (√पठ्) कडुअ<√कृ और गडुअ<√गम्।
(च) भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि, स्स, या इ नहीं (२७५)
(छ) दाणि, ता यूयेव, ण, हीमाण हे, द, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसीलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूंढा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही सम्भव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

1. हेम व्याकरण, बम्बई संस्कृत और प्राकृत सीरीज़, १९३६

लगा। सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करइ, करइ, करइ आदि रूपों से करौं, करैं, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे। लोट् (आज्ञार्थक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि। ब्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप हैं। भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि। ब्रज में करिहै, करिहौं, हैहै आदि रूप चलते हैं। विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है। करिज्जइ>करीजे (ब्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि। उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे। ब्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं। संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था। रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ बन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ। पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही। ब्रज में यही प्रचलित हुआ। प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय बोल्लावइ, पणवइ में दिखाई पड़ता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की। इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में बिल्कुल नहीं थी। इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा छिपी है। इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं। आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका सतुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए। १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का ओज और बल।

लगा। सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करइ, करइ, करह आदि रूपों से करौं, करै, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे। लोट् (आज्ञार्थक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि। ब्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप है। भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि। ब्रज में करिहै, करिहौं, हैहै आदि रूप चलते है। विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है। करिज्जइ>करीजे (ब्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि। उकार बहुल भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे। ब्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं। संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था। रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ। पूर्वकालिक क्रियाओ में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही। ब्रज में यही प्रचलित हुआ। प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय वोल्लावइ, पणवइ में दिखाई पडता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की। इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में बिल्कुल नहीं थी। इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकडों वर्षों तक की परम्परा छिपी है। इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं। आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ विशेषता है, इन सबका संतुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए। १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का ओज और बल।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराज रासो संवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा के लिए भयंकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव सम्हालने में घरेलू बोली को भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निज़ामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिंजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिन्हें महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूद को प्रभावित किया था।[1] खुसरो ने मसऊद इब्न साद के हिन्दी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५–११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[2] इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ८ वीं ओरियण्टल कान्फरेन्स का विवरण—मैसूर १९३५ 'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर से साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराज रासो संवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा के लिए भयंकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव सम्भालने में घरेलू बोली को भूल जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निज़ामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिंजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गज़नवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूद को प्रभावित किया था।[1] खुसरो ने मसऊद इब्न साद के हिन्दी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५–११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[2] इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खींचना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ८ वीं ओरियन्टल कान्फ्रेन्स का विवरण—मैसूर १९३५ 'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

तत्त्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से ध्वस्त मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विशद विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग की सबसे बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढंग में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है।'[1] हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२९-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] तेस्सीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेनी अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। सम्भवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ट सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और व्राचड़ वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

---

१. पुरानी राजस्थानी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५

तत्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से क्षत मध्यदेश में हस्तलेखों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा सुन्दर और विशद विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग की सबसे बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही यह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ साथ उसका भट्टि भी है।'[१] हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२९-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (सवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।' तेस्सीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेनी अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। सम्भवतः उन्होंने यह नाम जार्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और ब्राचड वाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओं को जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

---

१. पुरानी राजस्थानी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कंठाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसे शंका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एटले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा मां मने बाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' (बिलराव के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणों का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी कहने वालों पर वार प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छाप आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रंश मा जोई छे। डा० जाकोबी, पीशल, सर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा लल्चाय छे। इसके बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टिताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीड़ित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे बंगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्रधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४ अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वों' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे मोटे भेदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसके सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जातीं।[1] सोमप्रभ के

1 परमात्मप्रकाश, एस० जे० एस० १३, प्रस्तावना पृ० १०८

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कंठाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें किसे शंका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एटले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा मां मने बाध जणातो न थी।' व्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' (बिखराव के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि व्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणों का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी कहने वालों पर रोष प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छाप आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रंश मां जोई छे। डा० याकोबी, पीशल, सर ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा लल्चाय छे। इसके बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टिताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीड़ित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे बंगाल में यदि उनमें शौरसेनी की प्रधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४ अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वों' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे मोटे भेदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इसके सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जातीं।[1] सोमप्रभ के

---

1 परमात्मप्रकाश, एस० जे० एस० ११, प्रस्तावना पृ० १०८

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।[1] इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र को अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा सम्पर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि व्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के संरक्षण और सृजन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी ढूंढे थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।[2] डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[3] इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में आकर बसने का संकेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वारवती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।[4] महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईसवी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरों के फैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरब की ओर बिखरने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट का था, सम्भवतः ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। ये बाद में हिन्दू हो गए थे। महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आनन्द माडर्न इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३. व्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरित्यज्य गता द्वारावतीपुरीम् (महाभारत २। १३। ५६)

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।[1] इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र को अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा सम्पर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि ब्रजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के संरक्षण और सृजन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी ढूढ़े थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।[2] डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[3] इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में आकर बसने का संकेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वारावती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।[4] महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरों के फैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरब की ओर बिखरने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट का था, सम्भवतः ये अनार्य जाति के लोग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। ये बाद में हिन्दू हो गए थे। महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. भातन्द माडर्न इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरित्यज्य गता द्वारावतीपुरीम् (महाभारत २। १३। ५६)

दृढ़तर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारंभिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे।[1]

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा सङ्कलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनायें कहाँ कहाँ से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहे कहाँ से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या हैं, आदि प्रश्न उठते हैं! अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंधरी कथायें संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[2] की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

> जउ पवसन्ते सहु न गय न मुअ विओएँ तस्सु
> लज्जिज्जउ सदेसडा दिंतेहिँ सुहय स जणस्स
> [हेम० व्या० ८।४।४१६]

> जसु पवसंत ण पवसिया मुअए बिओइ ण जासु
> लज्जिज्जउं संदेसडउ दिन्तीं पहिअ पियासु
> [सं० रा० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

दृढ़तर हो गया। इसी कारण गुजरात की आरंभिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे।[1]

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनायें कहाँ कहाँ से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहे कहा से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या है, आदि प्रश्न उठते हैं। अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंधरी कथायें संकलित की गई हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[2] की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है–

जउ पवसन्ते सहु न गय न मुअ विओएँ तस्सु
लज्जिज्जउ संदेसडा दिंतेहिं सुहय स जणस्स
[हेम० व्या० ८।४।४१९]

जसु पवसंत ण पवसिया मुअए बिओइ ण जासु
लज्जिज्जउं संदेसडउ दिन्तीं पहिअ पियासु
[सं० रा० ७२]

संदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

---

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

की गाथायें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-बद्ध किया होगा, ये दोहे निःसन्देह उस भावावेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुंजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वत: फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में सकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही सकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुंज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुंज की रचना कहते हैं, यह भी असभव नहीं है।[1] मुंज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि[2] और पुरातन प्रबन्ध-सग्रह[3] के मुंजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलप की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध सग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छंडि बडाइती जे दासिहिं रचन्ति
ते नर मुंज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुंज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुंज भणइ मुणालवइ केसा काइ कुयन्ति
लद्धउ साउ पयोहरह बधण भणीय रमन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध सग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुंज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुंज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

१. गुलेरी जी का 'राजा मुंज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४
२. दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित
३. पुरातन प्रबन्धसग्रह पृ० १४

की गाथायें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-बद्ध किया होगा, ये दोहे निःसन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुंजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुंज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुंज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।[1] मुंज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि[2] और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह[3] के मुंजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलप की भगिनी 'कारापा तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्यां कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छंडि बडाइतो जे दासिहिं रचन्ति
ते नर मुंज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुंज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुंज भणइ मुणालवइ केसां काइ चुयन्ति
लद्धउ साउ पयोहरह बंधण भणीय रभन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध संग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुंज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुंज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

---

१. गुलेरी जी का 'राजा मुंज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४
२. दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित
३. पुरातन प्रबन्धसंग्रह पृ० १४

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८)। अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ, हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण ने प्राकृतांश में भी दिखाई पडती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में। 'ए (८। १। १६६ <अयि) आओ (आयो=ब्रज ८। २६८ <आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पडती। फिर भी लोण (४। ४४४ <लउण < लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ <स्वप) तो (४। ३७६ <तउ <तत)। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता। चौद्दह (८। १। १७१ <चतुर्दश) चौद्दसी (८। १। १७१ <चतुर्दशी) चाव्वारो (८। १। १७७ <चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुंज के दोहे में 'चउद्दसह' दिखाई पडता है। जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही ब्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पडती है।

§ ५३ व्यंजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुठित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियां मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पडता है। उम्हइ (४। ३४२ <उष्ण) तुम्हेहिं (४। ३७१ <*तुष्मे) अम्हेहिं (४। ३७१ <*अष्मे) ण्हाणु (४। ३९९ <स्नान=न्हानो, ब्रज)। उल्हवइ (४। ४१६ <उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ <मेल्हइ (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ह' का उच्चारण संभवत मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्लास उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यंजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यंजन और परवर्ती स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिए ब्रज में जूठो (जुट्ठ <*जुष्ठ या उच्छिष्ट) ठाकुर (<ठक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप० <दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप० <तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूरक सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

ऊसासेंहि (४। ४३१ <उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४। ४१९ <अँउँ <अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३९१ <दुस्सासणु <दु शासन) नीसरहि (४। ४३८ <निस्सरहि <नि सरसि) नीसासु (४। ४३० <निस्सास <नि श्वास) सीह (४। ४१८ <सिंह) तासु (४। ३५८ <तस्स <तस्य) जासु (<जस्स <यस्य) कासु (किस्स <कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरंभिक ब्रजभाषा में दिखाई पडता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२ <उत्सव), ऊससिरो (२। १४५ <उच्छ्वसनशील) ऊसारियो (२। २१ <उत्सारित) कासिवो (१। ४३ <कश्यप) दूहिया (१। १३ <दु खित)।

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८)। अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ, हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण के प्राकृतांश में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में। 'ए (८। १। १६६ <अयि) आओ (आयो=ब्रज ८। २६८ <आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। फिर भी लोण (४। ४४८ <लउण < लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ <स्वप) तो (४। ३७६ <तउ <तत)। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता। चौद्दह (८। १। १७१ <चतुर्दश) चौद्दसी (८। १। १७१ <चतुर्दशी) चाव्वारो (८। १। १७७ <चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुंज के दोहे में 'चउदहसह' दिखाई पड़ता है। जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही ब्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है।

§ ५३ व्यंजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुठित सघोष 'ह्द' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियां मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है। उण्हउ (४। ३४२ <उष्ण) तुम्हेहिं (४। ३७१ <*तुष्मे) अम्हेहिं (४। ३७१ <*अष्मे) ण्हाणु (४। ३९९ <स्नान=न्हानो, ब्रज)। उल्हसइ (४। ४१६ <उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ <मेल्हइ (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ल' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्लास उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यंभावी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यंजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यंजन और परवर्ती स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिए ब्रज में जूठो (जुट्ट <*जुष्ट या उच्छिष्ट) ठाकुर (<ठक्कुर अप०) डाढो (डड्ढा अप० <दग्ध) तीखो (तिक्खेइ अप० <तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूरक सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

ऊसासेंहि (४। ४३१ <उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४। ४१९ <अंउं <अपभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३९१ <दुस्सासणु <दुःशासन) नीसरहि (४। ४३९ <निस्सरहि <निःसरसि) नीसासु (४। ४३० <निस्सास <निःश्वास) सीह (४। ४१८ <सिंह) तासु (४। ३५८ <तस्स <तस्य) जासु (<जस्स <यस्य) कासु (किस्स <कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरंभिक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२ <उत्सव), ऊससिरो (२। १४५ <उच्छ्वसनशील) ऊसारियो (२। २१ <उत्सारित) कासिवो (१। ४३ <कश्यप) दूहिया (१। १३ <दुःखित)।

अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्त्वपूर्ण विभक्ति 'हिं' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अग्गहि अग्गण मिलिउ (४। ३३२)करण
(ख) अद्धा वलया महिहिं गउ (४। ४२२)अधिकरण
(ग) नवि उज्जाण वर्णेहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हिं' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) राधेहिं सखी बतावत री (सूर० ३५५८)—कर्म
(ख) सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म
(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहिं (सूर० ३४८५)—कर्म सप्रदान
(घ) ले मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण
(ङ) धरयो गिरिवर बाम कर जिहिं (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवर्ता अपभ्रंश या अवहट्ठ में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश दोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर्थी और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुर्थी-अर्थ में 'हिं' का प्रयोग किया है।

तुहुं पुणु अन्नहिं रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहिं' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की संख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गई है।

अध्ययन काफी महत्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्वपूर्ण विभक्ति 'हिं' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अग्गहिं अग्गण मिलिउ (४। ३३२)करण
(ख) अद्धा वलया महिहिं गउ (४। ४२२)अधिकरण
(ग) नवि उज्जाण वणेंहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अवशिष्ट चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हिं' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हिं' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) राधेहिं सखी बतावत री (सूर० ३५५८)[1]—कर्म
(ख) सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म
(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहिं (सूर० ३४८५)—कर्म सप्रदान
(घ) ले मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण
(ङ) धरयो गिरिवर वाम कर जिहिं (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवता अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश दोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर्थी और द्वितीया में इसके प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुर्थी-अर्थ में 'हिं' का प्रयोग किया है।

तुहुं पुणु अन्नहिं रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हिं' विभक्ति द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहिं' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की संख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गई है।

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण धरेइ ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित वदन उपर वारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ़ अधर सेज्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग केहिं' का 'कहै', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यों के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अम्हह तणा (४। ३७९) सम्बन्ध

३—बड्डुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रंश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेख>तनें, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यों का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह तैं काढ़ि कै (अपादान)

२—तुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परे तैं धीर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेखत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रंश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ>सौं के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मइ सहुँ नवि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जइ पवसन्तें सहुँ न गय (४। ३१९ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रस्फुटित नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौं कहै पुकारो (सूर ३६८७)

(२) हरि सौं मेरो मन अटक्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौं रति जोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रंश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रंश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउं और मइं के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउं के १३ प्रयोग और मइं के १५

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण धरेइ ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित बदन उपर वारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ़ अधर सेज्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग केहि' का 'कहै', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यों के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अम्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—बहुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रंश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण>तनें, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यों का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह तें काढ़ि कै (अपादान)

२—तुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परे तें धीर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेखत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रंश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ>सौं के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मइ सहुँ नवि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जइ पवसन्तें सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रस्फुटित नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौं कहै पुकारी (सूर ३६८७)

(२) हरि सौं मेरो मन अटक्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौं रति जोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रंश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रंश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

(३) धाइ चक्र लै ताहि उबारयो (सूर)
(४) अर्जुन गये गृह ताहि (सूर० सारा०)
(५) तासों नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) वो बड्डा घर ओइ (४।३६४)
(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)
(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताको, वाकौ, जाकौ, ताने, याने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वप्पी की भुंइडी (४।३६५)

इसी जा में को, सों, तै आदि के प्रयोग से जाको, जातै, जासों आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्य भी रूप अपभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेण (४।४१४) जास (४।३५८) जसु (४।३७०) जाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि बहुत हित जासों (सूर)
(२) जासु नाम गुन गनत हृदय तें (सूर)
(३) जा दिन तें गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३६५) कवणेण (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहिं बानि (१८२६)
(२) कौने बाध्यो डोरी (सूर)
(३) कहौ कौन पै कढ़त कनूकी (सूर)
(४) किन नम बाध्यो मोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते है।

अइसो (४।४०३<ईदृशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवडु (४।४०८<इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८<इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुलो से एतौ, इती, इतनी, आदि।

(१) एतौ हठि अब छांडि मानि री (सूर०३२११)
(२) तुम बिनु एतौ को करै (ब्रज कवि)
(३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
(१) ऐसो एक कोद को हेत (सूर० ४५३७)

(३) धाइ चक्र लै ताहि उबारयो (सूर)
(४) अर्जुन गये गृह वाहि (सूर० सारा०)
(५) वासौं नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अपभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) वो वड्डा घर ओइ (४।३६४)
(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)
(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताकी, वाकी, जाकौ, ताने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा बप्पी की भुइँहडी (४।३६५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्य भी रूप अपभ्रंश से व्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेण (४।४१४) जास (४।३५८) जसु (४।३७०) जाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके व्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि बहुत हित जासौं (सूर)
(२) जासु नाम गुन गनत हृदय तें (सूर)
(३) जा दिन तें गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) क्वणु (४।३६५) कवणेण (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहिं वानि (१८२६)
(२) कौने बाध्यो डोरी (सूर)
(३) कहौ कौन पै कढ़त कनूकी (सूर)
(४) किन नम बाध्यो भोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।४०३<ईदृशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एत्तुइ (४।४०८<इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८<इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुलो से एतौ, इतो, इतनो, आदि।

(१) एतौ हठि अब छांडि मानि री (सूर०३२११)
(२) तुम बिनु एती को करै (ब्रज कवि)
(३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
(१) ऐसो एक कोद को हेत (सूर० ४५३७)

परम्परा को छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में वह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करके अइ > ऐ या अउ > औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छइ रूसइ जासु (४।३५८)
    निहिचै रूसै जासु
(२) तलि घल्लइ रयणाइं (४।३३४)
    मातु पितु सकट घालै (सूर० ११३१)
(३) उच्छगि धरेइ (धरै) (४।३३६)
(४) जो गुण गोवइ अप्पणा
    लाजनि अखियनि गोवै (सूर ६६५)
(५) हउ बलि किज्जउं (४।३३८)
(६) हौं बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन में प्रायः हि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झ ससि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पंक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं > अइं होकर एँ हो जाता है जो चलैं करैं आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो ष्यति > स्सइ > हइ > है के रूप में आए। अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते है।

'निहए गमिही रत्तडी' का गमिही गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकांशतः, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते है—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृताश में स्पष्टतः भविष्य के लिए हिि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति हरिश्चिहिइ, हसिहिइ' (२।४।२४६)

इस हसिहिइ का रूप हसिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पढिहिइ (अ० १७७ पढ़िहै)।

(घ) नव्य आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का अपना अलग ढंग का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असमापिका क्रिया तथा नियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङ्न्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पढिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)
कुछ कह्यो न जाइ (सूर)
तुम अलि कासों कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

भग्गा घर एन्तु (४।३५१)
नैना कह्यो न मानत (सूर)
बढ़े बात मोंगन उतराई (सूर)

परम्परा को छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में वह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करके अइ>ऐ या अउ>औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छइ रूसइ जासु (४।३५८)
    निहिचै रूसै जासु
(२) तलि घल्लइ रयणाइं (४।३३४)
    मातु पितु सकट घालै (सूर० ११३१)
(३) उच्छंगि धरेइ (धरै) (४।३३६)
(४) जो गुण गोवइ अप्पणा
    लाजनि अखियनि गोवै (सूर ६६५)
(५) इउ बलि किज्जउं (४।३३८)
(६) हौं बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन मे प्रायः हि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झु ससि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पंक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं>अइं होकर एँ हो जाता है जो चलैं करैं आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो ष्यति>स्सइ>हइ>है के रूप में आए। अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते है।

'निदए गमिही रत्तडी' का गमिही गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकाशतः, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते है—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृताश में स्पष्टतः भविष्य के लिए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डिस्मिहिइ, डहिहिइ' (२।४।२४६)

इस डहिहिइ का रूप डहिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पढिहिइ (अ० १७७ पढिहै)।

(घ) नव्य आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का अपना अलग ढंग का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असामर्थिक क्रिया तथा नियार्थक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पढिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)
कुछ कह्यौ न जाइ (सूर)
तुम अलि कासों कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

भग्गा घर एन्तु (४।३५१)
नैना कह्यौ न मानत (सूर)
बढ़े बाल माँगन उतराई (सूर)

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की सख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला[1] में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की सस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढी जा सकती है।

ओक्खल	११७७	ओखरी	(सू० को०[2] १७६)
कुम्पल	११२६	कोंपल और कोंप	(सू० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि,त्रुटि	मेरे नयननि ही सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्ढा	गडहा, गड्ढ (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुडकी	घुघुआना (सूर० को० ४५६) दियौ तुरत नौवा कों घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूडी	(सू० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को सग यों फिरैं (सूर १।४४)
छुच्छ	२।२०४	छूछा	छूछी छाडि मटकिया दधि की (१०।२६०) प्रश्न तुम्हारे छूछे
झुम्पडा	४।४१६	झोपडा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तोरे (२०५६) नवरग दूलह रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछे ह्वै जु अरे (सूर)
थू	२।२००	कुत्साया निपातः	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली सुनु नवल पिय नव निकुज है री (३०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
वप्पुडा	४।३८०	वापुरो	कहा वापुरो कचन कदली (कुभन १६८)
लट्ठी	१।२४७	लाठी	लाठी कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी (सू० सा० २१५६)

---

१. देशी नाममाला, द्वितीय सस्करण, स० श्री परवस्तु वेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १६३८

२. व्रजभाषा सूर कोश, स० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ सम्वत्

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्त्व को स्वीकार करके अलग देशीनाममाला[1] में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढ़ी जा सकती है।

ओक्खल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को०[2] १७६)
कुप्पल	१।२६	कोंपल और कोंप	(सूर० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गंभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१६	खोरि,त्रुटि	मेरे नयननि ही सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्ढा	गडहा, गड्ढ (सूर० को० २६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुडकी	घुघुआना (सूर० को० ४५६) दियौ तुरत नौवा कौं घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३६५	चूड़ी	(सू० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को संग यो फिरैं (सूर १।४४)
छुंच्छ	२।२०४	छूंछा	छूंछी छाडि मटकिया दधि को (१०।२६०) प्रश्न तुम्हारे छूछे
झुम्पडा	४।४१६	झोपड़ा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाळ, डार	एक डार के से तोरे (३०५६) नवरंग दूलह रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछी	तिरछै है जु अरे (सूर)
थू	२।२००	कुत्सायां निपातः	थूथू
थूणा	२।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली सुनु नवल पिय नव निकुंज है री (३०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
बप्पुडा	४।३८०	बापुरो	कहा बापुरो कंचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लाठी कबहु न छांडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी (सू० सा० २१५६)

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, सं० श्री परवस्तु वेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. ब्रजभाषा सूर कोश, सं० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ संवत्

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोञ्छा	२।६५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहुरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घरं	२।१०७	जघनस्थ वस्त्रभेद : घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छुद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट रहयो तुम यहै जानि के (सूर)
घम्मोइ	२।१०६	गुण्डुत्सतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चंग	३।१	चंगा, ठीक, । रही रीझ वह नारि चंगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोट्टी	३।१	चोटी, मैया कब बढ़िहै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छाई (सूर० १।४४)
छुलियो	३।२४	छुलिया, जिन चपलनि छुलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः । चोरी रही छिनारो अब भयो (सूर, ७७३)
झखो	३।५३	झंख, झखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
झडी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न झारि (६७३)
झाड	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
झिल्लिरिआ	३।६२	झिल्ली (सूर को० ६६१)
झोलिआ	३।५६	झोली, बटुआ झोरी दोऊ अधारा (३२८४)
टल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐसो को टालो वैसी है तौं लौ मूड चढावै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
दोरो	३।५८	सूत्रम्, डोरा । तोरि लयौ कटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
फग्गु	६।८२	फाग, हरि संग खेलन फागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा मों को दुहुन सिखायो (सूर १२८५)
बाउल्लो	७।५६	बावरी, बावरी बावरे नैन, बावरी कहाँ धों अब बाँसुरी सौं तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

गुत्तं	२।११०	शिरोबन्धनम्। पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोच्छा	२।६५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहुरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घरं	२।१०७	जघनस्थ वस्त्रभेद : घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छुद्र घंटित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम्। घाट रहर्यो तुम यहै जानि कै (सूर)
घम्मोइ	२।१०६	गुण्डुत्सतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चग	३।१	चगा, ठीक, । रही रीझ वह नारि चगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोट्टी	३।१	चोटी, मैया कब बढ़िहै मेरी चोटी (सूर)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छाई (सूर० १४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन वचननि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः। चोरी रही छिनारो अब भयो (सूर, ७७३)
झखो	३।५३	झंखर, झखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
झड़ी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) मघवा गई नेक न झारि (६७३)
झाड	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
झिल्लिरिआ	३।६२	झिल्ली (सूर को० ६६१)
झोलिआ	३।५६	झोली, बहुआ झोरी दोऊ अधारा (३२८४)
ढल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐसो को ढालो बैसो है तो सौ मूड चढ़ावै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
दोरो	३।५८	सूत्रम्, डोरा। तोरि लयौ कटिहू को डोरी (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
फग्गु	६।८२	फाग, हरि संग खेलन फागु चली (सूर० २१८३)
बप्पो	६।८८	बाप, बाबा। बाबा मों को दुहुन सिखायो (सूर १२८५)
बाउल्लो	७।५६	बावरी, बावरी बावरे नैन, बावरी कहाँ धों अब बाँसुरी सौं तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

इस पंक्ति में मेह और बडवानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं—

प्रथमा—

(१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
(२) घण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)
(३) मोहन जा दिन वनहि न जात (सूर० ३२०२)
(४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुमन० २१८)

द्वितीया—

(१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
(२) बइ पुच्छइ घर वड्डाइ (४।३६४)
(३) पल लिहिआ भुबन्ति (४।३३५)
(४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
(५) काहे बाघति नाहिन छूटे केस (कुमन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, थंडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पडते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारका का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[1] यही नहीं द्वितीया के लिए भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[2] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

---

१ चतुर्थ्याः षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ।३।१३४ द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५ पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

इस पंक्ति में मेह और बडवानल दोनों का प्रथमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं—

प्रथमा—

(१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
(२) धण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)
(३) मोहन जा दिन बनहि न जात (सूर० ३२०२)
(४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुमन० २१८)

द्वितीया—

(१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८९)
(२) बइ पुच्छह घर वड्डाइ (४।३६४)
(३) फल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
(४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३६)
(५) कादे मावति नादिन छूटे नेह (कुमन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए है। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, घडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पडते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारकों का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[1] यही नहीं द्वितीया के लिए भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[2] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

---

1 चतुर्थ्याः षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ।३।१३४ द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५ पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।[1]

(१) पर भुजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) त अक्खणइ न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न धरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किंचित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा बरनि न जाइ (कुम्भन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, सक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहि अग न मिल्यो
(२) इउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यों दुहुँ दिसहिं
(३) बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ अह जीवइ निन्नेह ४।३६७	(४) जौ ससनेही तो मुवै जो जीवै विनु नेह
(५) बप्पीहा कइ बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एकइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै बोलिए निर्घृण बारहि बार सागर भरियो विमल जल लहै न एकौ धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२०	(६) साव सलोनी गोरी नोखी विसकै गाठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पत्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Joindu. The idom is current in Modern Languages.

Sandes a Rasaka study pp 44-45

दोहों, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।[1]

(१) पर भुजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) त अक्खणइ न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न भरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा बरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, सक्षेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश	ब्रज
(१) अगहिं अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहिं अग न मिल्यो
(२) हउ किन जुत्थउ दुहु दिसिहिं ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यौ दुहुँ दिसहिं
(३) बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ अह जीवइ निन्नेह ४।३६७	(४) जौ ससनेही तो मुवै जो जीवै बिनु नेह
(५) बप्पीहा कइ बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एकइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै बोल्यि निर्गुण बारहि बार सागर भरियो बिमल जल लहै न एकौ धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गठि ४।४२०	(६) साव सलोनी गोरी नोखी बिसकै गाठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पक्तियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Joindu. The idom is current in Modern Languages.

Sandes a Rasaka study pp 44–45

संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनायें करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४–१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—"जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

---

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०, पृ० ५

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनायें करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वी शताब्दी ईस्वी (स० ११४४–१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—"जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था को केवल एक, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

---

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५९ ई०, पृ० ५

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तव्या.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशेतर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत या द्वयाश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलझाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मालूम होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे सम्भवतः अपभ्रंश हो थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मालूम होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की संगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्थों तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भौं चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझते'[1]। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष सम्भवतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर ग्रंथ श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रूढ़ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं: विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई[2]। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २१-३०
२. वही, पृ० ८।

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तव्या.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशेतर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत या द्व्याश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलझाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मालूम होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे सम्भवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मालूम होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की संगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्थों तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भौं चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझते[1]। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष सम्भवतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर ग्रंथ श्वेताम्बर जैन साधुओं को अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रूढ़ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं: विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई[2]। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २१-२०
२. वही, पृ० ८।

राजस्थानी चारणों की पिंगल कृतियाँ आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु औक्तिक ग्रथों, उक्ति व्यक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रूढ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वय कोई ऐसा सकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर[1] (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती में अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

> अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसायमि भासाए
> लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्त भूसिय जेहि
> ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
> एक्खछन्द पमुक्क कुकवित्त को प ससेइ।
>
> (स० रा० ६–४७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलकारियों ने एकाधिक बार किया है। षड्भाषा प्रसग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मल कवि के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छ भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पैशाची की गणना होती थी।

> संस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
> ततोऽपि मागधा प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

---

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तत्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चाडाली, सावली, द्राविली, ओतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ ख

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२ सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, त तैसन जम्पओ अवहट्ठा

(कीर्तिलता १।१९–२२)

कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

राजस्थानी चारणों की पिंगल कृतियाँ आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु औक्तिक ग्रंथों, उक्ति-व्यक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रूढ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर व्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित व्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६. शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा संकेत नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर[1] (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती में अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

> अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसायमि भासाए
> लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्त भूसिय जेहि
> ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
> लक्खछन्द पमुक्क कुकवित्त को प ससेइ।
> (स० रा० ६–४७)

अद्दहमाण ने भी संस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने संस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसंग में संस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छः भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पैशाची की गणना होती थी।

> संस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
> ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

---

१. पुनु कइसन भाट संस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तत्त्वज्ञ, शकारी, आभिरी, चाण्डाली, सावली, द्राविली, ओतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ ख
डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १९४०ई०

२ सक्कय वाणी बहुअन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वअना सबजन मिट्ठा, त तैसन जम्पओ अवहट्टा
(कीर्तिलता १।१६–२२)
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

वशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पडती है, सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पडी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पडा। यह प्रवृत्ति जैसा वशीधर के सकेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का सकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, क्यों १२ शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को सन्दय करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयभू,[1] पुष्पदत,[2] जैसे गौरवशाली कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। सस्कृत आलकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजडित एक रूढ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं अवहट्ट यानी एक सीढी और बाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७. शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक सकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दीह समास पवाहा वकिय, सक्कय पायय पुलिणा लकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ (पासणाहचरिउ)
ण वियाणमि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ट सबधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य · लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

वशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगों को बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पडती है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के वाक्यविन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पडी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैसा वशीधर के संकेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैसा कि अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १० शवी के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रंश कहते थे। अपभ्रंश में निहित 'च्युति' को समझकर करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयभू,[1] पुष्पदत,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देसी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अपभ्रंश नाम का कम से कम प्रयोग किया। संस्कृत आलकारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रंश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अपभ्रंश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अपभ्रंश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रंश प्राकृत प्रभाव से विजडित एक रूढ भाषा थी, परवर्ती कवियों अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया, इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अपभ्रंश नहीं अवहट्ट यानी एक सीढी और बाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७. शौरसेनी अपभ्रंश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रंश १००० ईस्वी और ब्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दीह समास पवाहा वकिय, सक्कय पायय पुलिणा लकिय
देसी भासा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ (णायकुमारचरिउ)
ण वियाणमि देसी (महापुराण)

३. अवहट्ट सबधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।'[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।[3] किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बादमें पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।[4] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं: डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।[5] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ता बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों को परस्पर विरोधी विचार शृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ० १३९-४०

२. प्रिलिमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्च आव मैन्युस्क्रिप्ट्स आव बॉर्डिक क्रोनकिल्स, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, संवत् १९९१, पृ० १६०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव पिंगल शब्द व्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।'[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को व्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।[3] किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। व्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।[4] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब व्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार व्रज या व्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।[5] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ता बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार श्रृङ्खला में साम्य की कोई गुञ्जाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है। यदि डिंगल काव्य व्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में व्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'व्रजभाषा में काव्य रचना होने के

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संशोधित सं०, १९५४, पृ० १३६–४०

२. प्रिलिमिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेशन इन सर्च आव मैन्युस्क्रिप्ट्स आव बॉर्डिक क्रोनकिल्स, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अव बेंगाल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, संवत् १९९१, पृ० १६०

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश म काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

> दव्वसहायपयास दोहयबधेन आसिज दिट्ठं
> त गाहाबन्धेग च रइय माइल्लधवलेण।
> सुणियड दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुहकरो भणइ
> एत्थ ण सोहइ अत्यो गाहाबधेण त मणइ॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भौं चढाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दाश्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सकेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होडा होडी करते है जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानो 'कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेख़ता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेख़ता' भाषा कहा गया। 'रेख़ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेख़ता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२. ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खडा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पछाही) खडी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खडी बोली में हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के घर में यही झगडा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकाशत) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवर्ता शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सबध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश या विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बगाल के सिद्धों के दोहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनायें हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश म काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

> दव्वसहायपयास दोहयबंधेन आसिज दिट्ठं
> त गाहाबन्धेण च रइय माइल्लधवलेण।
> सुणियउ दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुहकरो भणइ
> एत्थ ण सोहइ अत्यो गाहाबंधेण त मणइ॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भौं चढाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दास्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली मे लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर संकेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होडा होडी करते है जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानो' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेख़ता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेख़ता' भाषा कहा गया। 'रेख़ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेख़ता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२. ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खडा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पछाहीं) खडी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खडी बोली मे हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के घर में यही झगडा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशत) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सम्बन्ध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश या विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनायें हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

1. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७

नागवानी क्या थी, पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य निजधरी कथाएँ लिखी हुई हैं। नाग-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था।[1] वेदों में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आने वाला कई जातियों में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बोधि सम्प्राप्ति के समय उत्थित तूफान में नागराज मुचिलिन्द ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छोटे-छोटे राजे अपने को नागों का वंशज बताते हैं।[2] इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्ध कबीला जीवन बिताने वाली घुमन्तू जाति थी, आभीर, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्त्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्त्वों की चर्चा करते हुए भिखारीदास काव्य निर्णय में नाग भाषा का भी उल्लेख करते हैं—

> ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ
> मिलै सस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होइ
> ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
> सहज पारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि।
>
> काव्यनिर्णय ११।५

यवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अलग ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुहफ़त उल हिन्द[3] का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक तथा फारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग बानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है जो

---

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley
   Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends Newyork 1950 pp 730
2. Ibid pp 780
3. यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'आन दी म्यूजिकल मोड्स आव दा हिन्दूस' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण भाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १९३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर आव दी ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

नागवानी क्या थी, पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाख्यानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य निजधरी कथाएँ लिखी हुई हैं। नाग-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था।[1] वेदों में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आने वाली कई जातियों में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बोधि सम्प्राप्ति के समय उरुविल्व उद्यान में नागराज मुचिलिन्द ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छोटे-छोटे राजे अपने को नागों का वंशज बताते हैं।[2] इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्ध कबायली जीवन बिताने वाली घुमन्तू जाति थी, आभीर, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्त्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्त्वों की चर्चा करते हुए भिखारीदास काव्य निर्णय में नाग भाषा का भी उल्लेख करते हैं—

> ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ
> मिलै संस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होइ
> ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
> सहज पारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि।
>
> काव्यनिर्णय ११।५

यवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अलग ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुहफ़त उल हिन्द[3] का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, संगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक तथा पारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग बानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है जो

---

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley
   Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends Newyork 1950 pp 780
2. Ibid pp 780
3. यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'आन दी म्यूजिकल मोड्स आव दी हिन्दूस' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण भाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने १९३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर आव दी ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

§ ८५. नं० ३ : यानी अवहट्ठ भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। सदेशरासक सभवत: सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पंजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में सस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाइड क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भाडार में भी अद्दहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो सभवतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी। सस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मदिर (तेरह पंथियों का) जयपुर के शास्त्रभाडार में उक्त प्रति (वे० न० १८२८) सरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दुल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

> पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
> तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥३॥
> तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
> अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासय रइयं ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दुलरहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि सस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देशरासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अत. यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति धनलोभ से खम्भात

§ ८६. न० ३ : यानी अवहट्ठ भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। सदेशरासक सभवतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पंजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में सस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाइड छनिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भाडार में भी अद्दहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो समवतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी। सस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पंथियों का) जयपुर के शास्त्रभांडार में उक्त प्रति (वे० न० १८२८) सुरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

> पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
> तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥३॥
> तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
> अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासय रइयं ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अद्दहमाण का अर्थ अब्दुलरहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि सस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को सुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देश रासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अत. यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देश-वाहक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति धनलोभ से खम्भात

कर्तव्य मानते थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्य पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभावापन्न और रूढ़ है। हालांकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ।

णहु रहइ बुहा कुकवित रेसि
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार
तिह पुरउ पठिव्वउ सव्ववार
(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ के दोहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रंथ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ भायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे "जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहा की भाषा अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।[1] दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत क्यों है?

§ ८७. प्रेम या विरह काव्यों में लोक गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलकृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग या कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विक्रमोर्वशीय में राजा की कातरता और विरह-पीड़ा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्राय लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

1 As suggested at relevent places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemcandra

Sandesa Rasaka introduction P 87

कर्तव्य मानते थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्य पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभावापन्न और रूढ़ है। हालांकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए काव्य करता हूँ।

> णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
> अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि
>
> जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार
> तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार
> (स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ के दोहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्त्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ भायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे 'जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है सन्देशरासक के दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहा की भाषा अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।'[1] दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत कही है।

§ ८७. प्रेम या विरह काव्यों में लोक गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलङ्कृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग या कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विक्रमोर्वशीय में राजा की कातरता और विरह-पीड़ा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्रायः लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

1 As suggested at relevent places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemcandra

Sandesa Rasaka introduction P 67

चिरगय (१८१ क<चिरगय<चिरगत), समय (२०८ <समय), परव्वस (२१० ग<परवस<परवश) दलव्वहल (११ क<दलवहल) तम्माल (५६ ग<तमाल), तुस्सार (१८४ घ<तुसार<तुषार) आदि।

§ ८९. **स्वरसंकोचन** (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरंजक इतिहास है। संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो टूटी ही, संधि प्रक्रिया से उन्हें सयुक्तस्वर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए।

अअँ>आँ=सुन्नार (१०८ क<*सुन्नआर<स्वर्णकार), साहार (१३४ घ< सहयार<सहकार), अधार (१३६ ग<अधआर<अवकार)।
अंउं>ओं=तो (१८ घ<तउ<ततः) सामोर (४२ क<सम्भउर<शाम्बपुर) मोर (२१२ ख<मऊर<मयूर) आसोय (१७२ क<आसउय <अश्वयुज), इंदोअ (१४३ घ>इन्दाओव<इन्द्रगोप) आदि।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चडिय> चढ़ी १६१ घ तुट्टिय>तुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं। अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढ़ी, टूटी आदि उसी अवस्था के संकेत हैं।

§ ९०. म्>व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की विशेषता कहा था। रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है। मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है। चाटुर्ज्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारम्भिक मैथिली से इसकी तुलना की है। (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) संदेशरासक में मध्यग व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मंनाएवि (७४ अ<मंनावेवि) माइयइ (५२ क< मानियइ<भाव्यते) भाइण (६५ ग<भाविण<भावेण), सताउ (७६ ख<सताउ< सताप) जीउ (१५४ ग<जीउ<जीवः)।

§ ९१. **ल का महाप्राणीकरण**। ल>ल्ह। ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं। मिल्हउ (४६ ग<मेल्ल=छोड़ना)।

§ ९२ द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में केवल एक व्यंजन को सुरक्षित रखने तथा इसकी क्षति पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई संदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी।

ऊसास (९७ क<उस्सास<उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग<निस्सरइ <निस्सरति) नीसास (८३ ग<निस्सास<निःश्वास) दीसहि (६८ घ <दिस्सइ <दृश्यते)।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में संदेशरासक का यर<कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथा दीवयर २२ ख, सबीनयर २२ घ, उल्हावयर ६७ ग। हेमचन्द्र में भी वंचयर (४।४१२) रूप इसी तरह का है। यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

चिग्गय (१८१ क<चिरगय<चिरगत), समय (२०८ <समय), परव्वस (२१० ग<परवस<परवश) दल्लवहल (११ क<दलवहल) तम्माल (५६ ग<तमाल), तुस्सार (१८४ घ<तुसार<तुषार) आदि।

§ ८९. स्वरसंकोचन (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरंजक इतिहास है। संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो रही ही, संधि प्रक्रिया से उन्हें सम्पृक्त बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए।

अँआँ>आँ=सुन्नार (१०८ क<*सुन्नआर<स्वर्णकार), साहार (१३४ घ< सहयार<सहकार), अधार (११६ ग<अधआर<अवकार)।

अंउं>ओं=तो (१८ घ<तउ<ततः) सामोर (४२ क<सम्भउर<शाम्बपुर) मोर (२१२ ख<मऊर<मयूर) आसोय (१७२ क<आसउय <अश्वयुज), इदोअ (१४३ घ>इन्दाओव<इन्द्रगोप) आदि।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपों के चडिय> चडी १६१ घ तुट्टिय>तुट्टी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं। अपभ्रंश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढ़ी, टूटी आदि उसी अवस्था के संकेत हैं।

§ ९०. म्>व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रीय अपभ्रंश की विशेषता कहा था। रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है। मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा की खास विशेषता है। चाटुर्ज्या ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारंभिक मैथिली से इसकी तुलना की है। (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) संदेशरासक में मध्यग व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मंनाएवि (७४ अ<मंनावेवि) माइयइ (५२ क< मावियइ<मान्यते) माइण (९५ ग<माविण<मावेग), सवाउ (७६ ख<सवाउ< सताप) जीउ (१५४ ग<जीवु<जीवः)।

§ ९१. ल का महाप्राणीकरण। ल>ल्ह। ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं। मिल्हउ (४६ ग<मेल्ल=छोड़ना)।

§ ९२ द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जनों में केवल एक व्यञ्जन को सुरक्षित रखने तथा इसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई संदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी।

ऊसास (९७ क<उस्सास<उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग<निस्सरइ <निस्सरति) नीसास (८३ ग<निस्सास<निःश्वास) दीसहि (९८ घ <दिस्सइ <दृश्यते)।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में संदेशरासक का यर<कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथा दीवयर २२ ख, सज्जीनयर २२ घ, उल्हावियर ६७ घ। हेमचन्द्र में भी वंचयर (४।४१२) रूप इसी तरह का है। यह प्रत्यय अंन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। ब्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु ब्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी' हसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुरि, हसि या लइ के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुडा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १००. भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृ वाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पडता है, जो ब्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कल्लोलिहि गज्जिउ १४२ ख, सिंहिंडउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हंसि चडिउ से हंस चडिउ >हंस चढ्यो।

§ १०१. संयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) को निसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है

(२) तक्खरु वक्खरु हरि गउ (६५ च) तश्कर ने सामान हर लिए

(३) असेस तरुय पडि चरिगय (१६२ घ) सभी पेडों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और ब्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२,७५४)

§ १०२. क्रियार्थक संज्ञाओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

(१) न धरणउ जाइ ७१ क, धरा नहीं जाता

(२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता

(२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

'एक दिवस की कहन न जाइ (छिताई वार्ता १२७)

§ १०३. परसर्गों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पडती है।

सउं (ब्रज सौं) विरह सउं ७६ क, कंदप्प सउं (६६ क)

गुरुविणु एण सउं (७४ ख)

सरिसु (ब्रज, सरिसौं, सरिसौ) हाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

§ ९९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी' हसि के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुरि, हसि या लइ के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुयासि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १०० भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। मल्लालिहि गज्जिउ १४२ ख, सिंहिंडउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हसि चडिउ से हस चडिउ>हस चड्यो।

§ १०१ संयुक्त क्रिया का प्रयोग अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नव्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड़ दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) का सिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने बिना रहता है
(२) तक्खर वक्खरु हरि गउ (६५ च) तस्कर ने सामान हर लिए
(३) असेस तरुय पडि परिगय (१६२ घ) सभी पेडों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२,७५४)

§ १०२ क्रियार्थक सज्ञाओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

(१) न धरणउ जाइ ७१ क, धरा नहीं जाता
(२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
(३) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

'एक दिवस की कहन न जाइ (छिताई वार्ता १२७)

§ १०३ परसर्गों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउ (व्रज सौं) विरह सउ ७६ क, कंदप्प सउ (६६ क)
गुरुविणु एण सउ (७४ ख)
सरिसु (व्रज, सरिसों, सरिसौ) हाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)
मियणाहिण सरिसउ (१८७ घ)

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ठ रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं को पुरानी बगला कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेत चिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ठ या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनोभावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ठ रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक युद्ध प्रसग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैंगलम् के हम्मीर सबन्धी पदों की तरह या रासो के युद्ध प्रसगों की भाषा की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हत्थ समत्थ भइ, रणरस पलट्टिय खग्ग लइ
तह एक्कहि एक्क पहार परे, जह खग्गहि खग्गहि धार धरे
हय लग्गिय चग्गिय चारुकला, तरवारि चमक्कइ विज्जु फला
हरि टोप्परि टुट्टि सरार रहे, तनु शोणित धारहिं धार बहे
तनु रग तुरग तरग बसे, तनु छुट्टइ लग्गइ रोस रसे
सच्चउ जन पेक्खहिं जु म कहा, महभावइ अज्जुन कन्न जहा
न आहव माहव सत्तु करें, बाणासुर जुज्झइ जुत्त भरे
महराअन्हि मल्लिकें चप्पिल्लउ, असलान निजानहु पिट्ठ दिउ
त खणे पेक्खिअ राय सो अरु सुरुखेअ करेओ
जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओं

(कीर्तिलता ४।२२६-४३)

इस भाषामें पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ>कर्यो, हरेओं>हर्यो के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश के अ+उ का ब्रज में सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'यो' जैसे कह्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ>औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पडती है।

§ १०६ सिवसिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवसिंह ने यवनों से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ठ रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं को पुरानी बगला कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी संकेत चिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ठ या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनो भावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ठ रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक युद्ध प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैंगलम् के हम्मीर सम्बन्धी पदों की तरह या रासो के युद्ध प्रसंगों की भाण की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हथ्थ समथ्थ भइ, रणरत्त पलट्टिय खग्ग हइ
तह एक्कहि एक्क पहार परे, जह खग्गहि खग्गहि धार धरे
हय लग्गिय चग्गिय चाल्कला, तरवारि चमक्कइ विज्जु कला
हरि टोप्परि टुट्टि सरार रहे, तनु शोणित धारहिं धार बहे
तनु रग तुरग तरग बसे, तनु छट्टइ लग्गइ रोस रसे
सव्वउ जन पेक्खहिं जु ज्झ कहा, महभावइ अज्जुन कण्ण जहा
न आहव माहव सत्तु करें, वाणासुर जुज्झइ सुत्त मरे
मदराभन्हि मल्लिकें चप्पिलउ, असलान निजानहु पिट्ठ दिउ
त खणे पेक्खिअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ
जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओं

(कीर्तिलता ४।२२६–४३)

इस भाषामें पूर्वी प्रयंगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ>कर्यो, हरेओं>हर्यो के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश के अ+उ का ब्रज में सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'यो' जैसे कह्यो, मर्यो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ>औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पडती है।

§ १०६ शिवसिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय शिवसिंह ने यवनों से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

(ग) कइ>कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूज आस असवार कइ उठिय सिरनवइ सव्व कइ (२।२३४) जाकै घर

निधि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—

दान खग्ग को मामन न जानइ २।३८ (षष्ठी) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।८०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संकेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रंजिउ (१।६३), जेन्ने गिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जाने जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असम्भव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु>मेरौ, व्रज

मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ भट्ठ (२। ४२)

मेरो मन अनत कहा सचुपावै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हौं के हउं या हमो पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शती के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)

वह सुधि आवत तोहिं सुदामा (सूर)

देखे तुम अस ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओऽपि>ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एहीं' रूप का भी महत्व है।

राय चरित रसालु एहु (कीर्ति०)

स्याम को यह परेखो आवे (सूर)

विश्वकर्मा एहि कार्य छल (कीर्ति०)

एहि घर बनी क्रीडा गज मोचन (सूर)

निजवाचक अपभ्रंश अप्पणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अपने दोस समक (कीर्ति)

(ग) कइ > कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूव आम असवार कइ उतिय सिरनवइ सन्त कइ (२।२३४) जाकै घर निसि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—

दान खग्ग को मामन न जानइ २।३८ (षष्ठी) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संकेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रंजिउ (१।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज वाने जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असमव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरौ, व्रज

मेरहु जेह गरिह अछ (२। ४२)

मेरो मन अनत कहा सचुपावै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हौं के हउं या हओ पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शती के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)

वह सुधि आवत तोहिं सुदामा (सूर)

देखे तुम अत ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओउरि > ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एहो' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रसालु एहु (कीर्ति०)

स्याम को यहै परेखो आवे (सूर)

विश्वकर्मा एहि कार्य छल (कीर्ति०)

एहि घर वनी क्रीडा गज मोचन (सूर)

निजवाचक अपभ्रंश अप्पणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अपने दोस समक (कीर्ति)

उदाहरण विभिन्न काल की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (९०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चाटुर्ज्या के मत से अधिकाश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ सख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।[1] इसी सिलसिले में उन्होंने श्री० सी० मजुमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस सग्रह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरतीं, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की जीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कडी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।[2] प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन व्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से सबद्ध है। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के सबंधी एक पद में 'जज्जल भणइ' यह वाक्यांश भी दिखाई पडता है :

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह महं जलउ।
सुरताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिय चलउ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सम्बन्धी कविताओं को जज्जल-कृत बताया है,[3] हालाँकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पडता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोढोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं किसी ओर कवि की होगी किन्तु यह कवि शाङ्र्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।[4] मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शाङ्र्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

१. चाटुर्ज्या, ओ० डे० व० लै० ६०
२. तेसीतोरी, इडियन एंटिक्वैरी, १६१४, पृ० २२
३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १६५२, पृ० ९५
५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शाङ्र्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

उदाहरण विभिन्न काल-की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (६०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चाटुर्ज्या के मत से अधिकाश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ सख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।[1] इसी सिलसिले में उन्होंने बी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं है। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस सग्रह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरतीं, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की जीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कडी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है।[2] प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से सबद्ध हैं। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के सबंधी एक पद में 'जज्जल भणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पडता है :

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह मई जलउ।
सुरताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिय चलउ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सबन्धी कविताओं को जज्जल-कृत बताया है,[3] हालांकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जज्जल का नाम नहीं है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रकाशित टीकाओं के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है— पर आधारित जान पडता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोढोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नहीं किसी और कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं।[4] मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर[5] का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

---

१. चाटुर्ज्या, ओ० डे० व० लै० ६०
२. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटिक्वैरी, १६१४, पृ० २२
३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी
४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १६५२, पृ० १५
५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दतहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, बंधिय सत्तु सुरज्ज हरा
कुल खत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कसअ केसि विणास करा
करुणा पअले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२०७)

गीत गोविन्द[1] का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते ।
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्र क्षय कुर्वते ॥
पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नमः ॥

(अष्टपदी १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें विरही लोग अत्यत कष्ट से बिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

ज फुल्लक फल वण बहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
झकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणदिय जुअ अण उल्लसु उठिय मणु
सरस नलिणि किम सयणा
पल्लट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमा समागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥

(पृ० २१)

कृष्ण सबधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में सकलित है, यह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

---

१. मंगेश रामकृष्ण तैलग द्वारा संपादित, बम्बई १९१३

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

> जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहिं ठाउ धरा
> रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, बंधिय सत्तु सुरज्ज हरा
> कुल खत्तिय तप्पे, दहमुख कप्पे, कंसअ केसि विणास करा
> करुणा पअले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा
>
> (पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द[१] का श्लोक :

> वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
> दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्र क्षय कुर्वते॥
> पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते।
> म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नमः॥
>
> (अष्टपदी १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें विरही लोग अत्यंत कष्ट से बिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौंरों की गुंजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

> ज फुल्लक फल वण बहत लहु पवण
> भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
> झंकार पअइ वण रवइ कुहिल गण
> विरहिय हिय हुअ दर विरसं
> आणंदिय जुअ अण उल्लसु उट्ठिय मणु
> सरस णलिणि किम सयणा
> पअट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
> कुसुम समय अवतरिय वणा
>
> (पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

> उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
> क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
> नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
> प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥
>
> (पृ० २१)

कृष्ण संबंधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, यह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोकों का बहुत प्रभाव मालूम होता है, दो एक श्लोकों को साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

---

१. मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा संपादित, बम्बई १९१२

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ<अक्षति*), करीजे (४०२।२<करिज्जइ<क्रियते), कहीजे (४०२।२<कहिज्जइ<कथ्यते) चउवीस (१५५।२<चतुर्विंशति), चाम (४३६।२<चर्म्म), जासु (१४३।१<जस्स>यस्य) णीसंक (१२८।४<निःशङ्क), णीसास (४५३।२<निःश्वास), तासु (३०।६<तस्य), दीसइ (३१५।५<दृश्यते) आदि। मध्यम व्यंजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Intervocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और रवानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यंजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नासिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। ब्रजभाषा में वंशी का बाँसुरी, पंक्ति का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण ब्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि<संदेश, गोविंद<गोविन्द, रँग<रंग, नँदनन्दन<नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

खँधया (१२६।४<स्कंधक), सँजुते (१५७।४<संयुक्त) चँडेसर (१८४।८<चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४<पञ्चचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह श्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चलै हो जाता है। कहउ का कहो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को सुरक्षित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ+इ=ओ आओ (५१६।४<आअउ ५५२।४<आगतः), उगो (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५<कहिअउ १६८।४<कथितः), चौदह (४०४।२<चउद्दह<चतुर्दश), जणीओ (३४८।१<जनितः), भौहा (४४३।३<भ्रूवे)

अ+इ=ऐ, आछे (४६५।२<अच्छइ), आवे (३५८।४<आवइ<आयाति), कहीजे (४४२।२<कहिज्जइ २४६।५<कथ्यते), धरीजे (४१२।१<धरिज्जइ<ध्रियते।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व श्रुति का विधान था। अपभ्रंश के बाद मध्यग 'व' व्यञ्जन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या श्रुति जन्य दोनों प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ<अद्यति*), करीजे (४०२।२<करिज्जइ<क्रियते), कहीजे (४०२।२<कहिज्जइ<कथ्यते) चउवीस (१५५।२<चतुर्विंशति), चाम (४३६।२<चर्म्म), जासु (१४३।१<जस्स>यस्य) णीसंक (१२८।४<निःशंक), णीसास (४५३।२<निःश्वास), तासु (२०।६<तस्य), दीसइ (११५।५<दृश्यते) आदि। मध्यम व्यंजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Intervocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और रवानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. ब्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यंजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नासिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। ब्रजभाषा में वंशो का बाँसुरी, पंक्ति का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण ब्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि<संदेश, गोविंद<गोविन्द, रँग<रंग, नँदनन्दन<नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

सँधया (१२६।४<स्कंधक), सँजुत्ते (१५७।४<संयुक्त) चँडेसर (१८४।८<चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४<पञ्चचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह श्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चलै हो जाता है। कहउ का कह्यो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को सुरक्षित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ+इ=ओ आओ (५१६।४<आअउ ५५२।४<आगतः), उगो (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५<कहिअउ १६८।४<कथितः), चौद्दह (४०४।२<चउद्दह<चतुर्दश), जणीओ (३४८।१<जनितः), भौहा (४४३।३<भ्रूवे)

अ+इ=ऐ, आछे (४६५।२<अच्छइ), आवे (३५८।४<आवइ<आयाति), कहीजे (४४२।२<कहिज्जइ २४६।५<कथ्यते), धरीजे (४१२।१<धरिज्जइ<ध्रियते।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व श्रुति का विधान था। अपभ्रंश के बहु मध्यग 'व' व्यञ्जन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या श्रुति जन्य दोनों प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

'पुलिंग शब्दों में वे प्राय अन्त में 'ओ' जोडते हैं जैसे कलूटो। किन्तु बोलचाल में 'ओ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग करते है जैसे कलूटा। केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

'ब्रजभाषा में पदान्त का 'आ' विशेषणों और क्रियाओं में प्राय' 'ओ' दिखाई पडता है किन्तु सज्ञा शब्दों में प्राकृत का 'ओ' आ ही रह जाता है।'[1] जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग ब्रज में चलते हैं।

§ ११७. दूसरी विशेषता है औकारान्त प्रयोग। प्राचीन ब्रज मे अभी तक औकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था। सूर और सूर के बाद की ब्रजभाषा में प्राय औकारान्त रूप मिलते है। मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है।[2]

§ ११८ ब्रजभाषा के सर्वनामो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते है। खडी बोली के सर्वनामों के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि। किन्तु ब्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा का आदि साधित हैं अर्थात् ब्रजभाषा में ये रूप वाने, वाको, जाको, ताको, आदि बनते हैं। इस प्रकार खडी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है ब्रज में ता, का, वा, या, जा का। प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज बिन्दु दिखाई पडते हैं।

(१) कैसे जिविआ ताका पिअला (४०८।४)
(२) ताक जणणि किण थकउ थक्कउ (४७०।४)
(३) काहु णअर गेह मद्दिए (५२३।४)
(४) जा अद्धंगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामा के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि ब्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं। नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं–

(१) हम्मारो दुरित्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पैं०)
(२) हमारें हरि हारिल की लकरी (सूर)
(३) गई भवित्ती किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पैं०)
(४) हमरी बात सुनो ब्रजराय (सूर)
(५) उप्पाय हीणा हडँ एक्क नारी (४३५।२ प्रा० पैं०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामा के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पडते हे।

(१) किंति तुअ हरिवम भण (१८४।८)
(२) सोहर तोहर स्कट सहर (३५१।२)

---

१ केलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा ब्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

'पुलिंग शब्दों में वे प्राय अन्त में 'ओ' जोडते हैं जैसे कलूटो। किन्तु बोलचाल में 'ओ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग करते है जैसे कलूटा। केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। व्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

'व्रजभाषा में पदान्त का 'आ' विशेषणों और क्रियाओं में प्राय 'ओ' दिखाई पडता है किन्तु सज्ञा शब्दो में प्राकृत का 'ओ' आ ही रह जाता है।'[1] जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग व्रज में चलते हैं।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग। प्राचीन व्रज मे अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था। सूर और सूर के बाद की व्रजभाषा में प्राय औकारान्त रूप मिलते हैं। मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है।[2]

§ ११८ व्रजभाषा के सर्वनामो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते है। खडी बोली के सर्वनामों के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि। किन्तु व्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा का आदि साधित हैं अर्थात् व्रजभाषा में ये रूप वानें, याकों, जाको, ताको, आदि बनते हैं। इस प्रकार खडी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है व्रज में ता, रा, वा, या, जा का। प्राकृतपैंगलम् में इन रूपों के बीज बिन्दु दिखाई पडते हैं।

(१) कैसे जिविआ ताका पिअला (४०८।४)
(२) ताक मणणि किण यकउ बभ्फउ (४७०।४)
(३) काहु पञ्चर गेह मद्दणि (५२३।४)
(४) जा अद्धगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामो के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि व्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं। नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं–

(१) हम्मारो दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पैं०)
(२) हमारे हरि हारिल की लकरी (सूर)
(३) गई भवित्ती किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पैं०)
(४) हमरी बात सुनो व्रजराय (सूर)
(५) उप्पाय हीणा हउँ एक नारी (४३५।२ प्रा० पैं०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामों के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पडते है।

(१) किति तुअ हरिअभ भण (१८४।८)
(२) सोहर तोहर स्कट सहर (३५१।२)

---

१ कैलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा व्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पडती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ √कृ का पूर्वकालिक रूप।

भई जुरि कै खरी (सूर)

कछुक दिवस औरौ ब्रज बसि कै (सूर)

खडी बोली हिन्दी में इसका थोडा भिन्न रूप पहनकर, खाकर आदि में दिखाई पडता है। प्राकृत पैंगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुमर खत्तिउ कट्टि कए यदि छन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अंतिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खडी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुँह संणाविकर' (२५६।४) में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। सन्देशरासक में 'देहवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगों ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि जाणीओ (५४७।३)

(२) फणिऍ भणीओ (३४८।१)

(३) पिंगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पडते हैं।

(१) सिहर कंपिओ (२६०।१)

(२) नअण झंपिओ (२६०।२)

(३) सो सम्माणीओ (५०६।२)

(४) पफुल्लिअ कुंद उगो ससि चंद (३००।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पडता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्ययान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदाहरणा (५०७।४), मज्झे तिणि पल्न्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कबीर, चारण शैली के नरहरिभट्ट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अव्यय के बहु प्रचलित धौं, लौ, आदि रूप प्राकृत पैंगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैंगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूरक अव्यय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पडती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ $\sqrt{}$कृ का पूर्वकालिक रूप।

भई जुरि कै खरी (सूर)

कछुक दिवस औरो ब्रज बसि कै (सूर)

खडी बोली हिन्दी में इसका थोडा भिन्न रूप पहनकर, लाकर आदि मे दिखाई पडता है। प्राकृत पैंगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुसर खत्तिउ कड्ढि कए वहि छन्द भणो (३३०।३, ४) 'कड्ढिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कै' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय भए पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अंतिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सजिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खडी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुँह संणावि कर' (२५६।४) में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। सन्देशरासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगों ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोहइहि जाणीओ (५४७।३)

(२) पणिएँ भणीओ (३४८।१)

(३) पिंगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैंगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पडते हैं।

(१) सिहर कंपिओ (२६०।१)

(२) नअण झंपिओ (२६०।२)

(३) सो समाणीओ (५०६।२)

(४) फुल्लिअ कुंद उगो ससि चंद (३३०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पडता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्ययान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा हरन्ता (५०७।४), मज्झे विणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कबीर, चारण शैली के नरहरिभट्ट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अव्यय के बहु प्रचलित धौं, कौ, आदि रूप प्राकृत पैंगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैंगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूरक अव्यय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

जिनपद्मसूरि नाम प्रसिद्ध किया।[1] इससे मालूम होता है कि श्री जिनपद्मसूरि १३८९ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिभद्द फागु का रचनाकाल इसी संवत् के आस पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिभद्द फाग श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संकलित है। परवर्ती अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अवश्यंभावी है, किन्तु सामान्यतः इसमें ब्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि स्थूलिभद्र पाटलिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार से प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

काजलि अंजिवि नयन जुय सिरि सथउ फाडेइ
वोरियाडिहि काचुलिय उर मडलि ताडेइ ॥१३॥
कन्नु जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला
चञ्चल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखतूरा ॥१४॥
लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
मयणराइ किर विजयखंभ जसु ऊरू सोहइ
जसु नख पल्लव कामदेव अंकुस जिम राजइ
रिमझिम रिमझिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥
नव जोवन विहसंति देह नव नेह गहिल्ली
परिमल लहरिहि मयमयंत रइ केलि पहिल्ली
अहर बिंब परवाल खण्ड वर चंपा वन्नी
नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण संपुन्नी ॥१६॥
इणि सिणगारि करेवि वर जव आई मुणि पासि
जो एवा कउतिग मिलिय सुर किंनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि<कज्जल, काचुलिय<कञ्चुलिय, वाजइ<वज्जइ, घाघरिय<घग्घर (देशीनाम माला) आदि शब्द, निर्विभक्तिक कारक प्रयोग, जस, जासु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लहलहत, विहसंति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी संपुन्नी, वन्नी, गहिल्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा को पूर्ववर्ती अपभ्रंश से काफी दूर और ब्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिंडोला, कचोला, मसूरा, सखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग ब्रज में भी चलते हैं।

---

1. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा और भवरलाल नाहटा, कलकत्ता संवत् १९९४, पृ० १४-१५

जिनपद्मसूरि नाम प्रसिद्ध किया।[1] इससे मालूम होता है कि श्री जिनपद्मसूरि १३९८ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिभद्द फागु का रचनाकाल इसी संवत् के आस पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिभद्द फाग श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा सपादित प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में सकलित है। परवर्ती अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अवश्यभावी है, किन्तु सामान्यतः इसमें ब्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पडती हैं। मुनि स्थूलिभद्र पाटलिपुत्र में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

> काजलि अंजिवि नयन जुय सिरि सथउ फाडेइ
> बोरियाडिंडि काचुलिय उर मडलि ताडेइ ॥१३॥
> कन्नु जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला
> चञ्चल चपल तरग चग जसु नयण कचोल।
> सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
> कोमल विमल सुकठ जासु वाजइ सखतूरा ॥१४॥
> लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
> मयणराइ किर विजयखभ जसु ऊरू सोहइ
> जसु नव पल्लव कामदेव अकुस जिम राजइ
> रिमझिम रिमझिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥
> नव जोवन विहसति देह नव नेह गहिल्ली
> परिमल लहरिहिं मयमयत रइ केलि पहिल्ली
> अहर बिंब परवाल खण्ड वर चपा वन्नी
> नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सपुन्नी ॥१६॥
> इणि सिणगारि करेवि वर जब आई मुणि पासि
> जो एवा कउतिग मिलिय सुर किनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि <कज्जल, काचुलिय <कञ्चुलिय, वाजइ <वज्जइ, घाघरिय <घग्घर (देशीनाम माला) आदि शब्द, निर्विभक्तिक कारक प्रयोग, जस, जासु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रंश के तिडन्त रूप तथा लहलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सपुन्नी, वन्नी, गहिल्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश से काफी दूर और ब्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिंडोला, कचोला, मसूरा, सखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खडी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग ब्रज में भी चलते हैं।

---

1. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, अगरचन्द नाहटा और भवरलाल नाहटा, कलकत्ता संवत् १९९४, पृ० १४-१५

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्तःप्रकृति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यंत वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगलम् के फुटकल पदों में दिखाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहुत की और खडनमडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलांजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड[1], डा० बूलर[2], डा० मारिसन[3], डा० ओझा[4] तथा डा० दशरथ शर्मा[5] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसगों की क्रमिक आंच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११९८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विभिन्नताओं को देखते

---

१. एनल्स एड एन्टिक्विटीज़ आव राजस्थान, १८२९
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० एस० बी०, जनवरी, १८९३
३. सम एकाउण्ट्स आफ दी जेनिओलाजीज् इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खड सात, १८९३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोषोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५ राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल आव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्तःप्रकृति की दृष्टि से अवहट्ठ या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा को विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यत वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इडियन एंटिक्वेरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन व्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रस्तुत ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृत पैंगल्म् के फुटकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहुत की और खडनमडन की अजस्र धारा में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलांजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड[1], डा० बूलर[2], डा० मारिसन[3], डा० ओझा[4] तथा डा० दशरथ शर्मा[5] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसगों को क्रमिक जाँच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्यों कि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषमताओं को देखते

१. एनल्स एड एन्टिक्वीटीज़ आव राजस्थान, १८२९
२. प्रोसिडिंग्स आफ दे० ए० एस० बी०, जनवरी, १८९३
३. सम एकाउण्ट्स आफ दी जेनिओलाजीज् इन, पृथ्वीराज विजय, वियना ओरियण्टल जर्नल, खड सात, १८९३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १, १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोषोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५ राजस्थान भारती भाग १ अक २-३, मरुभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम की मुद्रा, जर्नल आव न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० सं० १५-१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासो की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार हैं।"[1] ओझा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः संगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओझा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओझा जी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रहीं।[2]

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छप्पयों ने रासो की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अटकल बाजियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि यह ग्रन्थ समूचा ही बनावटी है और सत्रहवीं शदी के आस पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख झूठे मोतियों में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को अलग छाट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनावटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।[3]

---

१. ओझा निबंध संग्रह, भाग१, उदयपुर, पृ० ११२

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३६, पृ० ८-१०

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० स० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० स० १५-१७ की प्रशस्ति में रासों की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासो की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी सवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती है वे निराधार हैं।"[1] ओझा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओझा निबन्ध सग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध सग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओझा जी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रही।[2]

पुरातन प्रबन्ध सग्रह के चार छप्पयों ने रासो की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अटकल बाजियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस सग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते है जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि यह ग्रन्थ समूचा ही बनावटी है और सत्रहवीं शदी के आस पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस सग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासों में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए है। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख झूठे मोतियों में से मुट्ठी भर सच्चे मोतियों को अलग छाट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनावटी श्लोकों में से उन अल्पसख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।[3]

---

१. ओझा निबंध सग्रह, भाग१, उदयपुर, पृ० ११२

२. वहीं, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३६, पृ० ८-१०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज बज़बान पिंगल तसनीफ़ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल बयान में, रचयिता चन्द वरदाई।[1] गार्सां द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्त्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।'[2] तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।'[3] जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।[4] यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।' डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'[2]

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवर्ता वशाभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिलती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० सम्वत् के जान कवि के क्यामखा रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, पृ० ११
२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम सं० की पहली जिल्द की भूमिका १८३९ ई०
३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खण्ड ९, भाग प्रथम पृ० ६९

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज बज़बान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल जबान में, रचयिता चन्द बरदाई ।[1] गार्सा द तासी १२वीं से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।[2] तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पैंगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।'[3] जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।[4] यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।'[1] डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'[2]

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवर्ता वंशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से मिलती-जुलती कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपैंगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० सम्वत् के जान कवि के क्यामखा रासा में है, नरहरिभट्ट के छप्पयों में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, १९५३, पृ० ६६
२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम स० की पहली जिल्द की भूमिका १८३९ ई०
३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ८, काशी, १९५६
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खण्ड ९, भाग प्रथम पृ० ६१

रासो का छप्पय—

अगह मगह दादिमौ देव रिपराइ खयकरु
कूरमंत जिन करौ मिले अबूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्खै चंद बिरद्द बिभौ कोइ एहु न बुज्झै
प्रथिराज सुनवि सभरि धनी इह सभलि
कैमास वलिष्ट बसीठ बिन म्लेच्छ बध बधो मरिल
(रासो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लष तुषार सवल पाखरी अइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दति गजति महामय
वीस लक्ख पायक सफर फारक धणुद्धर
एहूसहू अरु वलु यान सक कुजाणइ ताह पर
छत्तीस लख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
जइ चंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूअ कि घरि गयउ ॥
(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लख्ख तोषार सजउ पक्खर सायद्दल
सहस हस्ति चौसट्ठि गरुअ गजंत महामय
पच कोटि पाइक्क सुफर फारक धनुद्धर
जुध जुधान वर वीर तोर बंधन सद्धनभर

छत्तीस सहस रन नाइबौ विहि त्रिम्मान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥
(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिन्हि' यानी तीन लख से 'असी लख्ख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यवधान मिटा कर नए रूप में सामने आई।

§ १२८. प्राचीन छन्दों की भाषा में सर्वत्र उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छन्दों में विवृति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं। यथा—

लडहडिउँ > ब्यरह्यौं (शब्दान्तर) चुक्कउ > चुक्यौ, कइवासह > कैमास, जंबूयय (इ) > जंबूवै, वुज्झइ > बुज्झै, सुज्झइ > सुज्झै, विअ (उ) > बियौ, चउदह > चौसट्ठि (शब्दान्तर) भयउ > मयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है। प्राचीन छन्दों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छन्दों की भाषा ब्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव

रासो का छप्पय—

अगह मगह दाहिमौ देव रिपराइ खयकरु
कूरमंत ब्रिन करौ मिले जमूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्खै चंद विरद्द बिमौ कोइ एहु न बुज्झै
प्रथिराज सुनवि सम्भरि धनी इह सम्भलि
कैमास वलिष्ठ वसीठ बिन म्लेच्छ बध बधो मरित
(रासो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिण्हि लक्ख तुषार सबल पाखरी अइं जसु हय
चउदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय
वीस लक्ख पायक सफर फारक्क धणुद्धर
ल्हूसडू अरु बलु यान सक हुजाणइ ताहं पर
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयउ
जइ चंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूअ कि घरि गयउ ॥
(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लप्ख तोषार सजउ पक्खर सायद्दल
सहस हस्ति चौसट्ठि गरुअ गजंत महामय
पंच कोटि पाइक्क सुफर फारक्क धनुद्धर
जुध जुधान बर वीर तोर बंधन सद्धनभर

छत्तीस सहस रन नाइबौ विहि निम्मान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कइ उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥
(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिण्हि' यानी तीन लक्ख से 'असी लप्ख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यवधान मिटा कर नए रूप में सामने आई।

§ १२८. प्राचीन छन्दों की भाषा में सर्वत्र उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छन्दों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं। यथा—

लडहडिउँ > ल्यहड्यौं (शब्दान्तर) चुक्कउ > चुक्यौ, कइवासह
> कैमास, जंबूयय (इ) > जंबूवै, बुज्झइ > बुज्झै, सुज्झइ > सुज्झै,
विअ (उ) > वियौ, चउदंह > चौसट्ठि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अवस्था को देखने से दो बातों का पता चलता है। प्राचीन छन्दों की भाषा प्राकृत पैंगलम् की भाषा की तरह उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छन्दों की भाषा ब्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव

§ १३२. व>म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस>पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवासह>कइमासह (कदम्बवास)

ग्रिर्सन ने अलीगढ़ की, व्रजभाषा में व>म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन<मनावन (हिन्दी) वामन<वावन (हिन्दी) रोमवि<रोवति।[1] अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलने थे।

मन्मथ>वम्मह

प्राचीन छप्पदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छप्पदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। बाण>बान, नंदण>नंदन, सट्भरिषपु>समरिषन आदि। व्रजभाषा में ण का न हो जाना है। वस्तुतः व्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये व्रज भाषा § १०५।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासो के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अप्रतरीभूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित मालूम होती है। दूसरी ओर रासो का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छप्पदों की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।[2]

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छप्पदों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासो की भाषा में तत्सम-प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत>अमिय, कृत>किय, हृदय>हिय, मृत्यु>मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में व्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७१

२. रासो की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर आव चंदवरदाई, जे० ए० एस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५–१८१

(ख) हार्नले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासो की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १९४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासो की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन विहारी त्रिवेदी–चन्दवरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१–३११

§ १३२ व>म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस>पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवासइ>कइमासइ (कदम्बवास)

ग्रियर्सन ने अलीगढ़ की, ब्रजभाषा में व>म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन<मनावन (हिन्दी) वामन<वावन (हिन्दी) रोमति<रोवति।[1] अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलने थे।

मन्मथ>वम्मह

प्राचीन छन्दों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छन्दों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण>बान, नंदण>नंदन, सद्भरिवणु>समरिघन आदि। ब्रजभाषा में ण का न हो जाता है। वस्तुतः ब्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये ब्रज भाषा § १०५।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासो के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अग्रसरीभूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित मालूम होती है। दूसरी ओर रासो का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छन्दों की भाषा का सीधा सम्बंध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।[2]

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छन्दों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासो की भाषा में तत्सम प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत>अमिय, कृत>किय, हृदय>हिय, मृत्यु>मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७१

२. रासो की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर आव चंदबरदाई, जे० ए० यस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५-१८१

(ख) हार्नले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासो की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १६४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासो की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी-चन्दबरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१-३११

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता। व्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। बीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, वाल्प्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देखा। इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोडकर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता। किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में सू, सों यथा **लक्ख सों भिरे, राज सूं कहइ**। करण में ते का प्रयोग भी हुआ है। यह ते व्रज में तै' के रूप में दिखाई पडता है, **पानि ते मेरु ढिल्ले**। सम्प्रदान में लगि या लग्नि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं **(१) जीव लगि छंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो**। व्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (आर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि का प्रयोग परवर्ती व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१४००–१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि को मन रतउ २—पृथीराज कउ ३—रोस के दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ>मज्झ>माझ, मह माझारि आरि कई रूपों में मिलता है।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पडते हैं।

हौं, मै—तो हौं छुडों देहि, मैं सुन्या साहिबिन अंप कोन

मो, मोहि—कह्यो मोहनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक

मेरे, मेरी—मेरे कछु राय न आवहु, मेरी अरदासि

हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमे परसर्गों के प्रयोग से कारका का निर्माण होता है। जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है। इसी तरह ता को, ता सो, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बिल्कुल व्रज कही जा सकती है।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास व्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैंगलम् की तरह। *झलक्कन्त कनक (कनक झलकता है) राइ अप्पत दान (राजा दान अर्पता है)* यह पिंगल और प्राचीन व्रज की अपनी विशेषता है। भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—ह—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं। मिटिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप व्रज के समान ही है। निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं। क्रियार्थक सज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है। व्रज की तरह ही, दिक्खण, चाइण, ' आदि जो उकारान्त होनेसे देखनो, चाहनो आदि व्रजरूप ले लेते हैं।

§ १४५ भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं। भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग सभव है। वैसे ये गतः>ग बने प्रतीत होते हैं।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता। व्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। बीम्स ने रासो का एक पद-उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, वालप्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देता। इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोडकर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता। किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में सू, सों यथा **लक्ख सों भिरे, राज सूं कहइ**। करण में ते का प्रयोग भी हुआ है। यह ते व्रज में तै' के रूप में दिखाई पडता है, **पानि ते मेरु ढिल्ले**। सम्प्रदान में लागि या लग्गि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं **(१) जीव लगि छंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो**। व्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (आर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि का प्रयोग परवर्ती व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि को मन रत्त २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ>मज्झ>माझ, मह माझारि आदि कई रूपों में मिलता है।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासो की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पडते हैं।

हौं, मै—तो हौं छुडों देहि, मैं सुन्या साहिबिन अंप कीन
मो, मोहि—कह्यो मोहनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक
मेरे, मेरी—मेरे कछु राय न आवहु, मेरी अरदासि
हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हह, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है। जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है। इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामों की दृष्टि से रासो की भाषा बिल्कुल व्रज कही जा सकती है।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास व्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पैंगलम् की तरह। झलकन्त कनक (कनक झलकता है) राइ अप्पत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन व्रज की अपनी विशेषता है। भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—ह—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं। भिदिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप व्रज के समान ही है। निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं। क्रियार्थक संज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है। व्रज की तरह ही, दिक्खण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि व्रजरूप ले लेते हैं।

§ १४५ भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं। भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग संभव है। वैसे ये गतः>ग बने प्रतीत होते हैं।

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।[1] चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रासो के अलावा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

> भये भट्ट प्रभु यज्ञ ते है सिरोहिया अङ्ग।
> वृतेश्वर यदुवंस के नङ्ग पङ्ग दल सङ्ग॥
> बाँसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते।
> दिये सात सौ ग्राम सहर हिंडोन सुदाते॥
> सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अवर।
> कञ्चन रत्न अडाव बहुत दीने जु अडम्बर॥
> कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव।
> नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू समर्पियव॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अन्वर, भरतपुर, धोलपुर आदि राज्यों के कुछ भागोंपर भी अधिकार कर लिया था।[2] पं० मोतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।[3] जबकि मिश्रबंधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, खुरासान, दिल्ली, ढूढाड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१८ वीं शताब्दी) और वंशभास्कर (१८९७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।[4] मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वंशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शती के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जिसे इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरंजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

---

१. अरबी फारसी शब्दों की एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६

२. द रुलिंग प्रिंसेज चीफ्स एण्ड लीडिंग परसोनेजेज इन राजपूताना, छठाँ संस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।[1] चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रासो के अलावा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

> भये भट्ट प्रभु यश ते है सिरोहिया श्रह।
> वृतेश्वर यदुवंस के नह पह दल सह॥
> वीसा सो गजराज बाजि सोलह सो माते।
> दिये सात सौ ग्राम सहर हिंडोन सुहाते॥
> सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अवर।
> कञ्चन रत्न जटाव बहुत दीने जु अडम्बर॥
> कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव।
> नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू सम्मर्पियव॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागोंपर भी अधिकार कर लिया था।[2] प० मोतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।[3] जबकि मिश्रबंधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते है कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूंढाड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रासो (१८ वीं शताब्दी) और वंशभास्कर (१८६७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।[4] मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वंशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शती के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जिसे इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरंजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

---

१. अरबी फारसी शब्दों की एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्दवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६

२. द रुलिंग प्रिंसेज़ चीफ्स आर लीडिंग परसोनेजेज़ इन राजपूताना, छठाँ संस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।[1] रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

> जिम जिम लसकर लोह रसि लोड्डइ सासन लक्कि
> ईडरवइ चउसइ चडइ तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

> कडक्कि मूंछ मोंछ मेंघ मल्ल मोल्हि मुग्गरि
> चमक्कि चलि रणमल्ल भल्ल फेरि संगरि
> चमक्कि धार छोडि धान छुण्डि धाडि धग्गड़ा
> पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥४५॥

चुपई

> हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवइ आइउ
> खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अडर दुग्ग तल गाह्यु ॥४६॥
> दम दम कार ददाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कइ
> तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लुट दुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा बिल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है "भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तड, पडापड से जी ऊबने लगता है।[2] तुलसीदास ने भी वीर प्रसगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विकार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्णकटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयकर विकृति दिखाई पडती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का भद्दा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औक्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल ब्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

1. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १–२
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४–६५

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।[1] रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम ल्सकर लोह रसि लोड्इ सासन लक्कि
ईडरवइ चउसइ घडइ तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

कडक्कि मूंछ मोंछ मेंछ मल्ल मोंहि मुग्गरि
चमक्कि चलि रणमल्ल भल्ल फेरि संग्गरि
धमक्कि धार छोडि धान छुण्डि धाडि धागड़ा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥४५॥

चुप्पई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवइ आइउ
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अड्डर दुग्ग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, डमडम डमडम ढोल डमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लरु टुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रंगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा बिल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है "भाषा मनोहर है पर शब्दों की तड़ा तड़, पड़ापड़ से जी ऊबने लगता है।"[2] तुलसीदास ने भी वीर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विकार भी स्वाभाविक नहीं हैं, प्रयासजन्य वर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का भद्दा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औक्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल ब्रज दरबारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १–२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४–६५

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कहलाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूर्वीया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल सम्बन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किंतु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों को (व्यंजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सकी वे या तो सन्धि या संकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १२४. १–दूजेण सउ (सौं) सब काहू तूट (त्रुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्तिव्यक्ति (३८।१७)

(४) चोरु (चोरो) धन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुऔं (सुआ<शुक) माणुस जेउ (ज्यों) बाज (इ) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र त्रुटित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कारान्त प्रातिपदिक (प्रथमामें[1]) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाटुर्ज्या प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।[2]) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

---

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhramsa later strengthened by the similar affix from old Braj
Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This hi is a short of made of-all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and form old Braj
Ukti vyakti Prakrana Study, pp 37

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कहलाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूर्वाया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विवरण ब्रजभाषा के अत्यत निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल सम्बन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किंतु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों को (व्यजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सकी वे या तो सन्धि या सकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते है। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५४. १–कूवेण सउ (सौं) सब काहू तूट (त्रुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हौं करओं (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्तिव्यक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) घन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुऔं (सुआ<शुक) माणुस जेउ (ज्यों) बोल (इ) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र त्रुटित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कारान्त प्रातिपदिक (प्रयमामें[1]) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाटुर्ज्या प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।[2]) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhramsa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This hi is a short of made of-all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and form old Braj

Ukti vyakti Prakrana Study, pp 37

१—प्राचीन व्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक संज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था। सोना का नपुंसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया। 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुंसक ही माना।[1] संग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

> लिगु तीन। पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु। भलु पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग। भलु नपुंसक लिंगु।[2]

यहाँ भी नपुंसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनों या अपनों में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रंथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चलता जो ब्रजभाषा में पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका संकेत औक्तिक ग्रंथों में पहली बार मिलता है लू > लौं :

> उपरि लूं = ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६
> हेठि लू = नीचे तक „ „ „
> तउ > तौ : तौ तईं उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शतृशानशौ
(२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
(३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने णुण तृचौ
(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च
(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
(६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्
(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तव्यानीयौ
(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्यया से बने रूप ब्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्त्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक संज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तव्यत् के करिबो, लेवो, देवो रूप ब्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७७
२. बालशिक्षा संज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ, पृ० २०५

१—प्राचीन ब्रज मे संभवतः तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने नपुसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलत. नपुसक था। सोना का नपुसक रूप उन्होंने 'सोनौं' बताया। 'अपनौं धन' मे अपनौं को भी उन्होंने नपुसक ही माना।[1] सग्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

> लिंगु तीन। पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु। भलु पुलिंगु, भली स्त्रीलिंग। भलुं नपुसक लिंगु।[2]

यहाँ भी नपुसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनौं या अपनौं में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चलता जो ब्रजभाषा में पर्याप्त सख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका सकेत औक्तिक ग्रथों में पहली बार मिलता है लू > लौं :

> उपरि लूं=ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६
> हेठि लू =नीचे तक ,, ,, ,,
> तउ > तौ : तौ तहिं उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शक्तृडानशौ
(२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
(३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादौ वर्तमाने वुण तृचौ
(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च
(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
(६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादौ तुम्
(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तव्यानीयौ
(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्यया से बने रूप ब्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तव्यत् के करिबो, लेबो, देवो रूप ब्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड १, भाग १, पृ० ७७
२. बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ, पृ० २०५

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००–१६००]

§ १४७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा–साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अव्वल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा–काव्य परंपरा अत्यंत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टत बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। कहीं कुछ विस्तार

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००–१६००]

§ १५७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता था, इसीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही संतोष कर लिया गया क्योंकि अव्वल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य परंपरा अत्यंत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टतः बहुत उत्साह नहीं था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। कहीं कुछ विस्तार

भारत में छा गयी थी, इसमें बहुत बाद तक काव्य रचना होती रही। १८ वीं शती में भी 'वंश भास्कर' जैसे ग्रन्थ इसमें लिखे गए, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य-भाषा का स्थान खो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भाषाएं बच जाती हैं, तथाकथित सधुक्कड़ी, पूरबी और ब्रज।

§ १५९. 'पूरबी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने बहुत खींच-तान की है। पूरबी का अर्थ भोजपुरी या या अवधी या कुछ और इस पर निर्णायक ढंग से विचार नहीं हो सका है। कुछ लोग 'पूरबी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरबी' के बारे में लिखते हैं कि 'पूरब दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (!) की ओर संकेत किया गया है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। अतएव कबीर साहब की ऊपर उद्धृत साखी का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।[1] कबीर के शब्द हैं—बोली हमारी पूर्व की। 'पूर्व की बोली' का आध्यात्मिक अर्थ संगत हो सकता है, अर्थात् पूर्वखण्ड के लोगों अर्थात् या स्वयं परमात्मा की। टीकाकारों ने भी ऐसा अर्थ किया है। हालांकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदी जी ने कबीर की भाषा में अवधी-तत्वों के खोज-बीन का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि 'पूरबी' शब्द कबीर ने जान बूझ कर 'पछाँही' या 'पश्चिमी' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरबी' शब्द 'पश्चिमी' का सापेक्ष है, जो इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनों प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। पूरबी का अर्थ साधारणतः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कबीरदास भाषा के सूक्ष्म भेदों के प्रति अधिक सचेत भले ही न रहे हों किन्तु तत्कालीन सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा और खड़ी बोली से अपनी निजी बोली का भेद तो वे पहचानते ही रहे होंगे। सम्भवतः कबीर ने सर्व-मान्य भाषा यानी ब्रज में अपने पूरबी प्रयोगों का स्पष्टीकरण करते हुए स्वीकार किया कि पूरब का होने के कारण अपनी भाषा 'पूरबी' का कुछ प्रभाव भी आ गया है। वैसे कबीर के कई पद भोजपुरी या अवधी में भी दिखाई पड़ते हैं। रमैनी की भाषा में अवधी का प्रभाव स्पष्ट है। दोहे चौपाई में लिखी अवधी रचनाओं का कबीर के समय तक काफी प्रचार हो चुका था। 'नूरकचन्दा', 'हरिचरित' जैसे काव्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और उनका काफी प्रचार था। पूरबी का अर्थ भोजपुरी ही है। जिन पदों में भोजपुरी-प्रयोग हैं वे कितने प्राचीन है, यह कहना कठिन ही है। बीजक में ही यह अधिक मिलता है। बीजक सत्रहवीं शताब्दी में धनौती (छपरा) मठ से प्रथम प्रचलित हुआ। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

§ १६०. तथाकथित सधुक्कड़ी और ब्रज पर हम साथ-साथ विचार करें तो ज्यादा समीचीन होगा। खड़ी बोली और ब्रज के उद्गम, विकास और पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत विवाद हुआ है। परिणामतः इनकी विभिन्नता को उचित से ज्यादा महत्व दिया गया और १८वीं शताब्दी के अन्त में इनके समर्थकों में काफी वाद विवाद भी हुआ। खड़ी बोली और ब्रज दोनों ही पड़ोसी बोलियाँ हैं इसलिए इनमें समता ज्यादा है, विभिन्नता कम। दोनों के उद्गम और विकास के स्रोतों का सही अभिज्ञान उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है।

---

1. कबीर साहित्य की परख, संवत् २०११, पृ० २१०

स्थानगत संबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन संभवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पंजाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति का मूल कारण पंजाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पंजाबी भाषा की आकारान्त प्रवृत्ति कही जा सकती है। डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित नई भाषा (खड़ी बोली) पर पंजाबी बांगरू जनपद हिन्दुस्तानी का सम्मिलित प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।[1] चाटुर्ज्या ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यंजन-प्रवृत्ति को भी पंजाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पंजाबी का घेर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियाँ सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में केवल परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, द्वित्व की सरलता की ओर झुकाव, उ करान्त क्रिया और संज्ञा तथा विशेषण रूप को ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया इसके विपरीत पंजाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अपभ्रंश के बीज बिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पंजाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला, संतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने संदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरो ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिका' नामक कृति में खुसरो ने लिखा है: यह मेरी गल्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी फारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबी से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूम में जो जबान चलती है वह हिन्दी से हीन है।[2] जाहिर है कि खुसरो की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अपभ्रंश से था क्यों कि भारतीय संस्कृति परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरो के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद मुहीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अजीबुलसान लासानी इन्किलाबात हो रहे थे और नई जबानें आलमें वुजूद में आ रही थीं। चुनांचे खुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बोलियाँ उस वक्त मुरव्वज थीं उनके मुख्तलिफ नाम गिनाए हैं। इनकी जबान (खुसरो की) ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। यह यकीन के साथ

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

2. The History of India as told by its own Historians by Henery Elliot Vol. 3 P.P. 556

स्थानगत संबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन संभवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पंजाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति का मूल कारण पंजाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पंजाबी भाषा की आकारान्त प्रवृत्ति कही जा सकती है। डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित नई भाषा (खड़ी बोली) पर पंजाबी बांगरू जनपद हिन्दुस्तानी का सम्मिलित प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।[1] चाटुर्ज्या ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यंजन-सुरक्षा को भी पंजाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पंजाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियाँ सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में केवल परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, व्यंजन-द्वित्व की सरलता की ओर झुकाव, उ कारान्त क्रिया और संज्ञा तथा विशेषण रूप को ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया इसके विपरीत पंजाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अपभ्रंश के बीज बिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पंजाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आसपास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला, संतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने संदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आरम्भिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरो ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिका' नामक कृति में खुसरो ने लिखा है: यह मेरी गल्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी पारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबी से थोड़ी हीन रूप सकती है पर राय और रूप में जो जबान चलती है वह हिन्दी से हीन है।[2] जाहिर है कि खुसरो की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अपभ्रंश से था क्यों कि भारतीय संस्कृति परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरो के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अजीमुश्शान लासानी इन्किलाबात हो रहे थे और नई जबानें आल्में वुजूद में आ रही थीं। चुनांचे खुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बोलियाँ उस वक्त मुरव्वज थीं उनके मुख्तलिफ नाम गिनाए हैं। इनकी जबान (खुसरो की) ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। यह दर्शन के साथ

1. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

2 The History of India as told by its own Historians by Henery Illiot Vol 3 P P 556

ली तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेखते का उस्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानवाज गैसूदराज मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनायें मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली कुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ की सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवंशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०९-४९ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डा० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ का समय संवत् १०५० माना है और डा० फर्कुहर उन्हें १२५७ संवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी (जोगेसुरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१. देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया आव रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३३४
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२४-३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

को तथा परवर्ती मीर को भी इसी रेखते का उस्ताद कहा है। रेख़ता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानवाज सैयदराज मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८–१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनायें मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली कुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवंशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६ ४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे नवीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डा० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ का समय संवत् १०५० माना है और डा० फर्कुहर उन्हें १२५७ संवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बड़थ्वाल ने गोरखबानी (जोगेसुरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१. देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया आव रेलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२४
३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२४–३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। संतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रूढ़ि-खंडन, पाखंड विरोध या उसी प्रकार के अन्य परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेख़ता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० बागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरंजन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनाश्री

पखेरू ऊडिसी आय लीयो बीसराम
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछुली घण कू चाहे मोर
सेवग चाहे राम कू ज्यों चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवगो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन यो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास।
तत निरंजण पाइय कहे मछन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्पटी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पचमेल यानी रेख़्ता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह संवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। संतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रूढ़ि-खंडन, पाखंड विरोध या उसी प्रकार के अन्य परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या खड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धों की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से सबद्ध बताती हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० बागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरंजन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनाश्री

पखेरू ऊडिसी आय लीयो वीसराम
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ।। टेक ।।
जल कू चाहे माछली धण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कू ज्यौं चितवत चन्द चकोर ।। १ ।।
यो स्वारथ को सेवडो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ।। २ ।।
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास।
तत निरंजण पाइय कहै मछन्दर नाथ ।। ३ ।।

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्पटी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पचमेल यानी रेख्ता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह संवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा हीं सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।'[1] 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में संकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, यह शौरसेनी भाषाओं की *परम्परा की उत्तराधिकारिणी* और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोक गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत रजवाड़ों का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होती, यही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिट पुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख वाणी में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिलित। नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४९२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव (दे० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

---

1. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, पृ० ५०

और भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किसी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।'[1] 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में सकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतपैंगलम् की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोक गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

> अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया
> गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रुच्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत रजवाड़ों का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं, यही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिट पुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख वाणी में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिलित। नाथों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४९२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव (दे० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

---

1. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, पृ० ५०

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंडन में वल्लभ संप्रदाय से मुगलों के साँठगाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-श्रद्धा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में वल्लभ सम्प्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात बिल्कुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६. ईस्वी १६७६ में मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

'मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।' इस कथन के बाद पत्र संख्या १६५ ख पर मिर्जा खाँ इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

(१) परिनिष्ठित ब्रज—चलो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
(२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
बुलन्दशहर
(३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धोलपुर ग्वालियर
(४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
(५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
(६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डाँग बोलियाँ
(७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
(८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंडन में वल्लभ संप्रदाय से मुगलों के साँठगाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या वल्लभ सम्प्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-श्रद्धा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में वल्लभ सम्प्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात बिल्कुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ 166. ईस्वी 1676 में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

'मथुरा से 84 कोस के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।' इस कथन के बाद पत्र संख्या 165 ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

(1) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
(2) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर 2—चल्यो
बुलन्दशहर
(3) परिनिष्ठित ब्रज नं० 3 चलो
पूर्वी आगरा, धौलपुर ग्वालियर
(4) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
(5) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
(6) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डाँग बोलियाँ
(7) राजस्थानी ब्रज नं० 2 मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
(8) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट्र (सर्वे आफ द हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनायें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है"[1]। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषधरमा नामक किसी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबंकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्तूबर १९५५ में जयपुर में श्री बधीचंद जी के जैन मन्दिर के अव्यवस्थित भाडार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

---

1. सर्वे रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० १७

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे आफ द हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनायें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है"[1]। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषधरमा नामक किसी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबंकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्तूबर १९५५ में जयपुर में श्री बधीचंद जी के जैन मन्दिर के अव्यवस्थित भांडार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

---

१. सर्वे रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० १७

रविवार व्रत कथा से—

दोन्हीं दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो वखाण
हीण अधिक अक्षर जो होय, बहुरि सवारें गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
मन उछाह मइ कियउ विचित्त, पंडित जण सोहइ दे चित
पंडित जण विनवउ कर जोरि, हउ मति हीण म लावहु खोरि ।

§ १७२ इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रूढिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अग्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचंद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबंध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल संवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सींधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नंबर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय बदी ११ आदित्यवार संवत् १६३४ है।

सम्वत् पंचसइ हुइ गया
ग्यारहोत्तरा अरुतह (?) भया
भादव वदि पंचमी ति, सारू
स्वाति नक्षत्र शनीचर वारू ।।१।।

१८ मई १९५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, बाराबंकी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल संवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन संवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता'[1] किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पड़ता है।[2] श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

1 हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १ ४, पृ० ११

2 He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday the 5 th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August 1354 A D Search Report 1923 25 page 17

रविवार व्रत कथा से—

दीन्हीं दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो बखाण
हीण अधिक अक्षर जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो बखाण
'मन उछाह मइ कियउं विचित्त, पंडित जण सोहहु दे चित
पंडित जण विनवउ कर जोरि, हउ मति हीण म लावहु खोरि।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रूढिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अग्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचंद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबंध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल संवत् १६९८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सीधिया ओरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नंबर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार संवत् १६३४ है।

सम्वत् पंचसइ हुइ गया
ग्यारहोत्तरा अरुतह (?) भया।
भादव वदि पंचमी ति, सारु
स्वाति नक्षत्र शनीचर वारु।११।

१८ मई १९५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भांडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भांडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, बाराबंकी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल संवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन संवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पंचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पड़ता'[1] किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ९ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पड़ता है।[2] श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

१. हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १-४, पृ० १६

2 He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday, the 5 th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August, 1354 A D Search Report 1923-25, page 17

पुत्र वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने वटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुन अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बडा होने पर प्रद्युम्न ने कालसंवर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा की अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयें में गिराया, वन में छोडा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से ब्याह किया। संवर पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुंदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौटा, उसने न केवल अपने मायावी घोडों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकडने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पडी। नागराज बलराम स्वय पकडने आये और मत्र प्रभाव से सिंह बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वांग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पाडवों से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-वल्लभाको अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल बल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुडाओ, यादवों की सेना आगे बढी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अगों से बार बार फडकने से कृष्ण को किसी रक्त सबधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लडके से रुक्मिणी लौटा देने की प्रार्थना की। अन्त मे मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाफोड किया। कृष्ण ने व्यग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्योधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका ध्वस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

पुत्र वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुन अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बडा होने पर प्रद्युम्न ने कालसवर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा को अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयें में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से ब्याह किया। सवर पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुंदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौटा, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वय पकड़ने आये और मत्र प्रभाव से सिंह बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पाडवों से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-वल्लभाको अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल बल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुड़ाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अगों से बार बार फड़कने से कृष्ण को किसी स्वजन सबधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लड़के से रुक्मिणी लौटा देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भंडाफोड़ किया। कृष्ण ने व्यग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुर्योधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका ध्वस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रंथ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

आँचली

सूरिज बस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, तातै पाप न पींडो रहै ॥८॥

§ १७५ हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधृत है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में व्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँणीज्जइ, धूणीज्जइ, सुणन्तु, आपणँह (षष्ठी) फाडइ, दीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-सुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुत्रि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी विलखाइ।
सुत सुत कहै वयण ऊचाइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाटइ हियो अति करै पुकार।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देपै मुख अरु चोवै नीर॥
धरि उछग मुप चूमा देइ, अरे बच्छ किम थान न पेइ।
दीपउ करि दीगेउ अँधियार, चन्द विहुण निसि घोर अंधार॥
वछ विण गो जिमि कार्यो आहि, रोहितास विणु जीवों काहि।
तोहिं विणु मो जग पाल्ट भयो, तोहि विणु जिवतहूँ मारउ गयो॥
तोहि विणु मैं दुप दीठ अपार, रोहितास लायो अँकवार।
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तेहि विणु सास ज्यो मुके सरीर॥
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ॥

विष्णुदास (संवत् १४९२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों व्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १९०६-८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १९०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गई।

आँचली

सूरिज वस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नातै पाप न पींडी रहै ॥८॥

§ १७५ हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधृत है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के लौकिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँणीजइ, धूणीजइ, सुणन्तु, आपणँइ (षष्ठी) फाडइ, दीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-सुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी बिल्खाइ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाटइ हियो अति करै पुकार।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देपै मुख अरु चोवै नीर॥
धरि उछग मुष चूमा देइ, अरे बच्छ किम थान न पेइ।
दीपउ करि दीजेउ अँधियार, चन्द विहुण निसि घोर अंधार॥
बछ विण गो जिमि कारयो आहि, रोहितास विणु जीवों काहि।
तोहि विणु मो जग पालट भयो, तोहि विणु जिवतहँ मारउ गयो॥
तोहि विणु मैं दुष दीठ अपार, रोहितास लायो अँकवार।
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तेहि विणु सास ज्या मुके सरीर॥
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ॥

विष्णुदास (संवत् १४९२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओंकी सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १९०६–८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १९०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गईं।

घट घट व्यापक अन्तर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम को दास ॥[1]

दो समान पदों में लिपि के कारण कितना बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पंक्तियाँ भ्रष्ट और त्रुटिपूर्ण हैं। रुक्मिणी मंगल कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मंगलकाव्य है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृंगार का अनोखा समन्वय किया है।

§ १७७ ब्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ९० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक तथ्य है। १९२६–२८ की रिपोर्ट में ही विष्णुदास की दूसरी कृति स्नेह लीला का भी विवरण दिया हुआ है।[2] स्नेहलीला भ्रमरगीत का पूर्व रूप है। कृष्ण को एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गोपियों के लिए ज्ञान का संदेश देकर गोकुल भेजते हैं। ज्ञान-गम्भीर उद्धव ब्रज की भूमि में सारी निर्गुण-गरिमा को छोड़कर वापिस आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये यहाँ श्री कृष्णचन्द के धाम
पाय लागि वन्दन कियो दोन्यों ले ले नाम १०९
ग्वाल बाल सब गोपिका ब्रज के जात अनन्द
तुमहीं पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रजचन्द ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम जानो मो पै कह्यो न जाय १११
वे नित टारत नहीं स्याम राम की ओर
अथ नायक सुरतौ अहै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम की महिमा कहूँ अनन्त
मैं पूछा षट् मास लौं तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब त्यागि के करत रूप का ध्यान
जन को भजन बिचारिये सो सब फीको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज की नार
चरण सरन रहौं सदा मिथ्या लगत बिचार ११५
उनके गुन नित गाइये करि करि उत्तम भाँति
मैं नाहिन देखूँ कहुँ ब्रज वासिन की रीत ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जानत सब अंग
हौं कहुँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिन का संग ११७
ब्रज तजि अनत न जायहों मेरे तो या टेक
भूतल भार उतारहीं धरिहौं रूप अनेक ॥ ११८

१. खोज रिपोर्ट, १९२६–२८, पृ० ७२६, संख्या ४९८ ए
२ वही, पृ० ७३०, संख्या ४९९

घट घट व्यापक अन्तर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास।
विष्णुदास रुकमन सरनाई जनम जनम को दास ॥[1]

दो समान पदों में रुचि के कारण कितना बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पंक्तियाँ भ्रष्ट और त्रुटिपूर्ण हैं। रुक्मिणी मंगल कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मंगलकाव्य है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृंगार का अनोखा समन्वय किया है।

§ १७७ ब्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ९० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है। १९२६-२८ की रिपोर्ट में ही विष्णुदास की दूसरी कृति स्नेह लीला का भी विवरण दिया हुआ है।[2] स्नेहलीला भागवत का पूर्व रूप है। कृष्ण को एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गोपियों के लिए ज्ञान का संदेश देकर गोकुल भेजते हैं। ज्ञान-गम्भीर उद्धव ब्रज की भूमि में सारी निर्गुण-गरिमा को डुबाकर वापिस आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्धव का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये वहाँ जहाँ कृष्ण चन्द के धाम
पाय लागि वन्दन कियो सेवत ले ले नाम १०९
ग्वाल बाल सब गोपिका ब्रज के जात अनन्द
तुमही पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन्य ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम मनै मो पै कह्यो न जाय १११
वे चित टारत नहीं स्याम राम की ओर
मथ नायक सुरती बसै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम की महिमा कहूं अनन्त
मैं पूछ्यो षट् मास लौं तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छाँड़ि के करत रूप को ध्यान
तन को भजन विचारिये सो सब फीको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज की नार
चरन सरन रहौं सदा जिह्वा लगा विचार ११५
उनके गुन नित गाइये करि करि उत्तम भांति
मैं नाहिन देखूँ कहुँ ब्रज वासिन की रात ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जानत सब अंग
हौं कहुँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिन्ह को संग ११७
ब्रज तजि अनत न जायहो मेरे तो या टेक
भूतल भार उतारहो धरिहो रूप अनेक ॥ ११८

---

१. खोज रिपोर्ट, १९२६-२८, पृ० ५२६, संख्या ४९८ पृ
२ वही, पृ० ७९०, संख्या ४९९

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है।[1] अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ९½''×८'' २६ पंक्तियाँ और १७५ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित कराया है।[2] नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। वही २६ पंक्ति, वही ९½''×८'' के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु खोज रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस सभा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ वस्तुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियों की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुणो कथा रस लील विलास, योगी मरन राय बनवास
मेल्हो करि कवि दामो कहइ, पदमावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
कासमीर हुँत नीसरइ, पंचन सत अमृतरस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ॥२॥
नमूँ गणेश कुंजर रोप, मूसा वाहन हाथ फरेस
लाइ लावन जस भरि थाल, विघन हरण समरूं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौपाइयों में ही भाषा-भेद देखें। सुणउ (ना०) सुणो (सर्च०) मेल्हउ (ना) मेल्हो (सर्च) दामउ (ना) दामो (स) वाहण (ना०) वाहन (स०) लावण (ना०) लावन (स०)। सर्च रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्वृत्त स्वर ज्यों के त्यों हैं उनमें पुरानापन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्च रिपोर्ट वाली प्रति में सम्भवतः लेखक ने उद्वृत्त की संधि करके अउ > औ कर लिया है। ण के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मामूली अन्तर जरूर होता है बस। प्रतियाँ प्रायः एक ही मालूम होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

संवतु पनरइ सोलोत्तरा मझारि
जेठ वदी नवमी बुधवार
सत तारिका नक्षत्र दृढ जान
वीर कथा रस करूँ बखान ॥४॥

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५
२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५३-५८

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है।[1] अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथी के विवरण में १० पत्र, ६½"×८" २६ पंक्तियाँ और ४८८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीअगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपथगा में प्रकाशित कराया है।[2] नाहटा जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'इति श्री वीरकथा लखमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६६ वर्ष भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। वही २६ पंक्ति, वही ६½"×८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु खोज रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज जयपुर में उस सभा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ वस्तुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियों की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहटा जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

> सुगो कथा रस लील विलास, योगी मरन राय बनवास
> मेलो करि कवि दामो कहइ, पदमावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
> कारानीर हुँत नीसरइ, पंचम सत अमृतरस भरइ
> सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ॥२॥
> नमूँ गनेश कुंजर शेष, मूसा वाहन हाथ फरेस
> लाडू लावन उस भरि थाल, विघन हरन समरूं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौपाइयों में ही भाषा-भेद देखें। सुनउ (ना०) सुणों (सर्च०) मेलउ (ना) मेलो (सर्च) दामउ (ना) दामो (स) वाहन (ना०) वाहन (स०) लावए (ना०) लावन (स०)। सर्च रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहटा वाली प्रति में उद्वृत्त स्वर ज्यों के त्यों हैं उनमें पुरानापन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्च रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्वृत्त की संधि करके अउ> औ कर लिया है। ण के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मामूली अन्तर व्यक्त होता है बस। प्रतियाँ प्रायः एक ही मालूम होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

> सवत् पनरइ सोलोत्तरा मझारि
> जेठ बदी नवमी बुधवार
> सत तारिका नक्षत्र दृढ जान
> वीर कथा रस कहूँ बखान ॥४॥

---

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५३-५८

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने यह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा वचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, धनुषबाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कपूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके डूबते हुए लड़के की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभावप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

> घरि चालयउ लखणउतो राय, अति भणइ हरखयउ मन भाय
> कहइ बधावउ आवउ राइ, तब तिण लावउ बहुत पसाइ ॥६२॥
> लखन सेन लखनौती गयउ, राज माँहि बधावउ भयउ
> चमण भाट करइ कइ बार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
> मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
> माय पूत अरु धाय कुमारि, लखन सेन भेट्यो तिणि वार ॥६३॥
> भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
> योगी सरिसउँ भइ दुःख सहयउँ, चालयउँ कुँआ कष्ट मागेयउँ ॥६७॥
> गढ सासउर रहइ इह राय, तासु धीय परणी रंग माहि।
> पछइ कपूर धार हूँ गयउँ, चन्द्रावती विहाहण लियउँ ॥६४॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

डूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन श्रावक और कवि थे। डूंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा वचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, धनुषबाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके डूबते हुए लड़के की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामों की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभाषाप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

> घरि थालयउ लखणउतो राय, अति आणंद हरख्यउ मन भाय
> कहइ बधावउ आयउ राइ, तब तिण लाधउ बहुत पसाइ ॥६२॥
> लखन सेन लखनौती गयउ, राज माँहि बधावउ भयउ
> बभण भाट करइ कइ बार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
> मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह घणा
> माय पूत अरु धीय कुमारि, लखम सेन भेट्यो तिणि वार ॥६३॥
> भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
> योगी सरिसउँ भइ दुःख सहयउँ, घालयउँ कुँभा कष्ट भागेयउँ ॥६४॥
> मड सालदर रहइ छइ राय, सातु धीय परणी रंग लाहि।
> पछइ कपूर धार हूँ गयउँ, चन्द्रावती विहाइण लियउँ ॥६४॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

डूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन श्रावक और कवि थे। डूंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

जिस कालि जिसउ दीन्हउ, तिसउ तिन काल पावंत जन
संघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपर्यी
कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवन्नी
दस कंधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
कीचक अरु द्रुपदी कन्न देउल सिरि भइयेउ
रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अहमहि दुक्खयउ
तिनि मयन नृपति डूगर कहइ को को को न विडम्बउ ॥१॥
औषधि मूल मन्त्री सर्प नहिं मानइ दुर्जन
सर्प डसी वेदना एहि दिट्ठइ हुई गजन
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि
तवडो जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि
वइरो वेमास कीजइ नहीं, नींद न आवइ सुक्ख करि
परिहरउ सदा डूगर कहइ भलउ न वंछइ पिसुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छप्पय अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्पयों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।[1]

§ १८४. मानिक कवि

१९३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की वैतालपचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।[2] इस त्रैमासिक विवरण का संक्षिप्त अंश नागरीप्रचारिणी पत्रिका में संवत् १९९६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।[3]

मानिक कवि ने विक्रमी संवत् १५४६ अर्थात् १४८९ ईस्वी में वैताल-पचीसी की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, श्रोर बरस आगरी छियाल।
निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास॥
आठे द्योस बार तिहि भानु, कवि भाषे बैताल पुरानु।
गढ़ ग्वालियर वरन अतिभलो, मानुसिंध तोवर जा बलौ॥
सघई खेमल बीरा लीयो, मानकि कवि कर जोरें दीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

---

१. डूगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।
२. त्रैमासिक खोज विवरण १९३२-३४ पृ० २४०-४१
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, अंक ४

जिस कालि जिसउ दोन्हउ, तिसउ तिन काल पावंत जन
संघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपर्षो
कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवन्नो
दस कंधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
कीचक भरु द्रुपदी कज्ज देउल सिरि भइयेउ
रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अश्वहि डुब्बयउ
तिनि मयन नृपति डूगर कहइ को को को न विड्व्यउ ॥६॥
औषधि मूल मंत्री सर्प नहिं मानइ दुर्जन
सर्प डसी वेदना एहि दिट्ठइ हुई गजन
लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि
तवडी जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि
वइरी वेमास कीजइ नहीं, नींद न आवइ सुक्ख करि
परिहरउ सदा डूगर कहइ भलउ न वंछइ पिसुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छप्पय अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्पयों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १८४. मानिक कवि

१९३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की बैतालपचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।[२] इस त्रैमासिक विवरण का सहित अंश नागरीप्रचारिणी पत्रिका में संवत् १९९६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।[३]

मानिक कवि ने विक्रमी संवत् १५४६ अर्थात् १४८९ ईस्वी में बैताल-पचीसी की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओरु वरम आगरौ छियाल।
निर्मल पाख आगहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास॥
आठे घोस वार तिहि भानु, कवि भापे बैताल पुरानु।
गढ़ ग्वालियर वरन अतिभलो, मानुसिंघ तोवर जा वलौ॥
सघई खेमल बीरा लीयो, मानकि कवि कर जोरें दीयो।
मोहि सुनावहु कथा अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

---

१. डूगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।
२. त्रैमासिक खोज विवरण १९३१-३४ पृ० २४०-४१
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, अंक २

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी सवत् १५५० में उन्होंने पचेन्द्रियबेलि या गुण बेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पचेन्द्रियबेलि की अंतिम पंक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

> कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो।
> ते बेलि सरस गुन गायो, चित चतुर पुरुष समुझायो ॥३५
> सवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो।
> इ पाँचो इन्द्रिय वस राखे, सो हरत परत फल चाखे ॥३६

'इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त। सवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकुर वार लिखितम् नेंद्रावारणी आगरा मध्ये।'

घेल्ह सम्भवत ठक्कुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अंत में 'घेल्ह नदणु ठक्कुर सी नॉव' यह पंक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई सकेत नहीं मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय बेलि में इन्द्रियों के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें सयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

> केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिपालि।
> मीन मुनिष ससार सर सौं काढ्यो धीवर कालि ॥
> सो काढ्यो धीवर कालि, दिगाल्यो लोभ दिपालि।
> मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तहँ दीठै ॥
> इहि रसना रस के घाले, थल आइ मुवे दुष साले।
> इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
> इहि रसना रस के ताईं, नर मुवे वाप गुरु भाई।
> घर फोडे मारे वाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
> मुषि झूठ साच बहु बोले, घरि छाड़ि देसाउर डोलै।
> इहि रसना विषय अकारी, वसि होई ओगनि गारो ॥
> जिन जहर विषै वस कीते, तिन्ह मानुष जनम बिगूते।
> कवलिय पइट्ठो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रूति ॥
> रैनि पड़ो सो सकुर्यो नीसरि सक्यो न मूढि।

ठक्कुरसी ने नेमि राज मति के प्रेम प्रसग पर भी एक बेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथसकुन सत्तावीसी है।

छिताई वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १६४१–४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिसपल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी संवत् १५५० में उन्होंने पंचेन्द्रियबेलि या गुण बेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पंचेन्द्रियबेलि की अंतिम पंक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

> कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो।
> ते बेलि सरस गुन गायो, चित चतुर पुरुष समुझायो ॥३५
> संवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो।
> इ पाँचो इन्द्रिय वस राखे, सो हरत परत फल चाखै ॥३६

'इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त। संवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुक्रुर वार लिखितम् बैरावारणी आगरा मध्ये।'

घेल्ह सम्भवतः ठक्कुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्ताईसी के अंत में 'घेल्ह नदणु ठक्कुर सी नॉव' यह पंक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। ठक्कुरसी ने पञ्चेन्द्रिय बेलि में इन्द्रियों के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें संयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

> केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिखालि।
> मीन मुनिष ससार सर सौं काढ्यो धीवर कालि ॥
> सो काढ्यो धीवर कालि, दिगाल्यो लोभ दिपालि।
> मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तहँ दीठै ॥
> इहि रसना रस के घालै, थल आइ मुवै दुख सालै।
> इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
> इहि रसना रस के ताई, नर मुवै बाप गुरु भाई।
> घर फोड़े मारे बाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
> मुखि झूठ साच बहु बोले, घरि छांडि देसाउर डोलै।
> इहि रसना विषय अकारो, वसि होई ओगनि गारो ॥
> जिन जहर विषै वस कीते, तिन्ह मानुष जनम बिगूते।
> कवलिय पइट्ठो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रूदि ॥
> रैनि पड़ी सो सकुच्यौं नासरि सक्यो न मूंदि।

ठक्कुरसी ने नेमि राजमति के प्रेम प्रसंग पर भी एक बेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथसकुन सत्ताबीसी है।

छिताई वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १६४१–४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिस्पल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।[1] इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायनदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से होतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नरायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'[2]

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खां को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्त्रस्त प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। यहाँ उसने सुल्तान के भाई उलू खां को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बीत गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

---

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायनदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई सभी विचारी कथा बनई।
गुनियन गुनौ नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. त्रैमासिक आलोचना, अंक १६, पृ० ७१

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।[1] इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायनदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नरायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'[2]

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खां को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्त्रस्त प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उलूग खां को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बीत गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

1. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायनदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई सभी विचारी कथा बनई।
गुनियन गुनी नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

2. त्रैमासिक आलोचना, अंक १६, पृ० ७१

वदनि जोति तैं ससि कर हरीं, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं अजौं उजारि ॥५४५॥
जे गज कुम्भ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
तैं केहरि मध्य स्थुल हर्यो, सो हरि ग्रेह कन्दल नीसर्यो ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिउँ भए, उदर फूटि तें दारिउँ गए ।
कमल वास लइ अंग छिपाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
जइ तैं हरी हंस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
होइ सन्त माननी मान, तजै देस कै छूडे जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छिताई वार्ता[1] की भाषा १५वीं शताब्दी की व्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

थेघनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वालियर व्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था। थेघनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राज पुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था। थेघनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४-४६) में प्रकाशित हुई।[2] इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित है। इस प्रति का लिपिकाल संवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति संवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादस स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग अलग हो गई। स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है। दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। देखो प्रति नम्बर २७८।५०। जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं।[3]

श्री थेघनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ संकेत किया है। विक्रमी १५५७ अर्थात् ईस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन भानु, गढ गोपाचल उत्तम थानु ।
मानसींह तिहि दुग्ग नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
नीत पुत्त सौ गुत आगरौ, वसुधा शासन को भवतारो ।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै ब्रह्मा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो गुत मान स्थय की करै ।
जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

---

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई वार्ता नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक संग्रह, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की टिप्पणी

वदनि जोति दै ससि का हरीं, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी।
हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं भर्जों ऊजारि ॥५४५॥
जे गज कुम्भ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए।
तैं केहरि मध्य स्थुल हर्यो, सो हरि मेह कदल भौसर्यो ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिउँ भए, उदर फुटि तें दारिउँ गए।
कमल वास लइ अग छिडाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
अइ तैं हरी हस की चाल, मलिन मान सर गए मराल।
होइ सन्त माननो मान, तजै देस कै छुडे जान ॥५४८॥

किया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छिताई वार्ता[1] की भाषा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है।

थेघनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वालियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था। थेघनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राज पुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था। थेघनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४-४६) में प्रकाशित हुई।[2] इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित है। इस प्रति का लिपिकाल संवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति संवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादस स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिपी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग अलग हो गई। स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है। दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। देखो प्रति नम्बर २७८।५०। जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं।[3]

श्री थेघनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ संकेत किया है। विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन भानु, गढ गोपाचल उत्तम थानु।
मानसींह तिहि दुग्ग नरिन्दु, असु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
नीत पुँज सौ गुन आगरी, बसुधा राखन को अवतारो।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै ब्रह्मा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो धुत मान स्यघ को करै।
जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

---

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई वार्ता नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक संग्रह, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की टिप्पणी

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६७. जनवरी सन् १६३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगरचन्द नाहटा ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मंझन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १९५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई।
एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायथ कुल में होई
एक नाव माधव बड़ होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई
कायथ नाम चतुर्भुज जाकौ, मारू देस भयौ गृह ताकौ
पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी
कछु क यामैं चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी
माधव ता तैं गाइयौ यों रस प्रन सोय
कौन काम रस स्यों हु तौ जानत हैं सब कोय
काइथि गाई जानि कै रसक निरसि की बात
नाम चत्रभुज हो भयौ मारू माँहि विख्यात।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी संसार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब जानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।' डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

संवत् सोरै सै बरसि जैसलमेर मझारि।
फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार॥

'इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रंथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

1. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १९५४ पृ० २०–२१

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६७. जनवरी सन् १६३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगरचन्द नाहटा ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मंझन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १६५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पदों से इस पुस्तक की रचना प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई।
एक साध ब्राह्मन सोई, दूजो कायथ कुल में होई
एक नाव माधव वह होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई
कायथ नाम चतुर्भुज जाको, मारू देस भयौ गृह ताको
पहली कायथ कही जब जानी, पाछे माधव उचरी बानी
कछु क थामैं चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी
माधव ता तैं गाइयौ यों रस पूरन सोय
कौन काम रस स्यों हु तौ जानत हैं सब कोय
काइथि गाई जानि कै रसक निरखि की बात
नाम चत्रभुज हो भयौ मारु माँहि विख्यात।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी संसार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब बानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।'[1] डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

संवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मझारि।
फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार॥

'इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रंथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

---

1. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १६५४ पृ० २०–२१

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नषत रेवती ।
चन्द नक्ष वलु पाइयौ, लगन भली सुभ उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे। इन्होंने सवत् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में धर्मोपदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बारहसेनी जाति के थे। अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सघ विख्यात श्रावक बारहसेनी जाति में हे रिल साहु नामक पुरुष हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र करमसी जिन के परम उपासक और परमविवेकी दयालु व्यक्ति थे। उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया। प्रशस्ति सग्रह में इनकी रचना के कुछ अश उद्धृत किये हुए हैं।[1] ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो अठहतरि वरिसु, सम्वच्छर कुचन्द कन सारसु
निर्मल वैसाखी अखतीज, बुधवार गुनियहु आनीज
तादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
मगल करु अरु विघनि हरनु, परम सुख कविपनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मगल कामना व्यक्त की है। यह प्रसग धर्मदास की सहृदता और जनमगल की सदिच्छा का परिचायक है। भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है।

धन कन दूध पूत परिवार, बाढै मंगल सुपहु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मास भरि जल वरषन्त
मगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगल चार
घर घर सीत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दुक्ख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदउ जिन सासन ससार, धर्म दयादिक चलौ अपार
नदउ जिन पडिमा जिन गेह, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १६५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर जहाँ सूर और तुलसी जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा श्रद्धा-भाजन बना वहीं देव, बिहारी और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सहृदय व्यक्तियों के गले का हार भी। बहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भावना के साहित्य को

1. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित। पाण्डुलिपि आमेर भण्डार, जयपुर में सुरक्षित

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नखत रेवती ।
चन्द नख्य बलु पाइयौ, लगन भली सुभ उपजी मती ।।

रचना सामान्य ही है। भाषा ब्रज है।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे। इन्होंने सवत् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में धर्मोपदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बारहसेनी जाति के थे। अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सघ विख्यात श्रावक बारहसेनी जाति में हरिल साहु नामक पुरुष हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र करमसी जिन के परम उपासक और परमविवेकी दयालु व्यक्ति थे। उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया। प्रशस्ति सग्रह में इनकी रचना के कुछ अश उद्धृत किये हुए हैं।[1] ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो अठहत्तरि वरिसु, सम्वच्छर कुशनन्द कन सरसु
निर्मल वैसाखी अखतीज, बुधवार गुनियहु आनोज
तादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ
मगल करु अरु विघनि हरनु, परम सुख करियनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मगल कामना व्यक्त की है। यह प्रसग धर्मदास की सहृदयता और जनमगल की सदिच्छा का परिचायक है। भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रसादयुक्त है।

धन कन दूध पूत परिवार, बाढ़ै मंगल सुयसु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मास मरि जल बरषन्त
मगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगल चार
घर घर सीत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दुक्ख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदउ जिन सासन ससार, धर्म दयादिक चलौ अपार
नदउ जिन पडिमा जिन गेह, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १६५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर जहाँ सूर और तुलसी जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा श्रद्धा-भाजन बना वहीं देव, बिहारी और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सहृदय व्यक्तियों के गले का हार भी। बहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भावना के साहित्य को

---

1. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित। पाण्डुलिपि आमेर भाडार, जयपुर में सुरक्षित

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पयों के प्रथम अक्षर से 'ॐ नम सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

§ १६७. पच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ सवत् में लिखा—

सम्वत पनरह पचहत्तरइ पूनिम फागुन मास।
पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी आगल्ल सइ जु पन्दह सम्बच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥
हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो ॥
नालि गाव सिनाथ सुतनु आगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि ककण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ सवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वशीय थे।

कवि छीहल की पच सहेली आरभिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओ की मर्म-व्यथा को अत्यत सहज ढग से व्यक्त किया है। मालिन, तबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दु ख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओ तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दु ख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिलीं बोली मालिनी हम कू दुक्ख अनन्त।
बालो जोवन छडि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥
निस दिन वहइ प्रनाल ज्युं नयनह नीर अपार।
विरहउ मालीं दुक्ख का सूभर भरया कियार ॥१८॥
कमल वदन कुमलाइया सूका सुप वनराइ।
पिय विण मुझ इक्कु पिण वरस बराबर जाइ ॥१६॥
चपा केरी पखरी गूँथ्या नवसर हार।
जो एहि पहिरउँ पाव बिनु लागइ अगु अगार ॥२२॥

तँबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउ सिर धुनउ किस सो कहूँ पुकार।
तन दाझइ मन कल्मलइ नयन न खडइ धार ॥२५॥
पान कयें सब सूख कै वेलि गई सब सूकि।
दूभरि रात वसत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पया के प्रथम अक्षर से 'ॐ नम सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

§ १६७. पच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ सवत् में लिखा—

संवत पनरह पचुहत्तरह पूनिम फागुन मास।
पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी आगल्ल सइ जु पन्द्रह सम्वच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥
हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो ॥
नाल्हि गाव सिनाथ सुततु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कक्कण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ सवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नाल्हि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वशीय थे।

कवि छीहल की पच सहेली आरभिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओ की मर्म-व्यथा को अत्यत सहज ढग से व्यक्त किया है। मालिन, तबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दु ख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओ तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दु ख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिली बोली मालिनी हम कू दुक्ख अनन्त।
बालो जोवन छडि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥
निस दिन बहइ प्रनाल ज्युं नयनह नीर अपार।
विरहउ माली दुक्ख का सूभर भरया कियार ॥१८॥
कमल बदन कुभलाइया सूकी सुप बनराइ।
पिय विण मुझ इक्कु पिण बरस बराबर जाइ ॥१९॥
चपा केरी पखरी गूँथ्या नवसर हार।
जो एहि पहिरउँ पाव बिनु लागइ अगु अगार ॥२२॥

तँबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउ सिर धुनउ किस सो कहूँ पुकार।
तन दाझइ मन कलमलइ नयन न खडइ धार ॥२५॥
पान ज्यों सब सूख कै वेलि गई सब सूकि।
दूभरि रात वसत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

(१) पन सहेली री बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०)।

(२) पचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६)।

(३) पचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ सस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं।

(४) पचसहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२। लिपिकाल १७४६ स०।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है। आमेर भाडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं। वैसे कई प्रतिया में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पच सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है। राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न>ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पडता है। चुराइया (४८) काढ्या (५६) वीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में। किसी किसी प्रति में ये ही क्रियायें ओकारान्त भी दिखाई पडती हैं। प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं। सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि। बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं।

बावनी

§ १९८. कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिपाक का उत्तम उदाहरण है। नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसीलिए प्राय उसकी कविता में नीति की एक नए ढग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है। रचना के अश परिशिष्ट में सलग्न हैं। इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

> लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि।
> करि रासभ आरूढ धरि आनियो गुण भरि॥
> देकरि लत्त प्रहार मूढ गहि चक्क चढ़ायो।
> पुनरपि हार्थाहं कूट धूप धरि अधिक सुखायो॥
> दीनी अगिनि छीहल कहै कुभ कहै हउँ सह्यो सब।
> पर तरणि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझकर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चलती रही। भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है।

(१) पच सहेली री बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपिकाल १७१८ स०)।

(२) पचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६)।

(३) पचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ सस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं।

(४) पचसहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२। लिपिकाल १७४६ स०।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है। आमेर भडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं। वैसे कई प्रतियों में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पच सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है। राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न>ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पडता है। चुगाइया (४८) काढ्या (५६) नींदिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में। किसी किसी प्रति में ये ही क्रियायें ओकारान्त भी दिखाई पडती हैं। प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं। सहेलियाँ (६), मवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि। बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं।

बावनी

§ १९८. कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिपाक का उत्तम उदाहरण है। नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसीलिए प्राय उसकी कविता में नीति की एक नए ढग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है। रचना के अश परिशिष्ट में सलग्न हैं। इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि।
करि रासभ आरूढ घरि आनियो गुण भरि॥
देकरि लत्त प्रहार मूट गहि चक्क चढ़ायो।
पुनरपि हाथहिं कूट धूप धरि अधिक सुखायो॥
दीनी अगिनि छीहल कहै कुभ कहै हउँ सह्यों सब।
पर तरुणि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझ-कर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चलती रही। भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है।

गुरुग्रन्थ में व्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० सं० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वहीं नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश संवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त संक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

गुरुग्रन्थ में व्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० सं० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वहीं नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश संवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त संक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पाखंड खंडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रद्युम्न चरित, हरीचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

> १—बदहु किन होड माधउ मोसिउ
> ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर खेल परिउ है तोसिउ
> आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा
> जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥
> आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा
> कहत नामदेउ तूँ मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥
>
> २—मैं बउरी मेरा राम भतारु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार
> भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग।
> तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥
> बाद बिवाद काहू सिउ न कीजै, रसना राम रसाइनु पीजै।
> अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥
> उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रंगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माधउ>माधौ, मो सिउ>मो सौं, परिउ>पर्‌यो, तोसिउ>तो स्यौं, सुनन कउ>सुनन कौं, करउ>करौं, निंदउ>निंदौं में उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में न>उ को परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बउरी <बाउल< व्याकुल, नामदेउ<नामदेव, देउ<देव, माधउ<माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, खास तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३. **त्रिलोचन**—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवन वृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,[1] पंढरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

---

१. आउट लाइन आव द रीलिजस लिटरेचर इन इण्डिया, पृ० २१०–३००।

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पाखंड खंडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रद्युम्न चरित, हरिचंदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु किन होड माधउ मोसिउ
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर खेल परिउ है तोसिउ
आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा
जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥
आपहि गावै आपहिं नाचै आप बजावै तूरा
कहत नामदेउ तूँ मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥
२—मैं बउरी मेरा राम भतारु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार
भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग।
तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥
बाद विवाद काहु सिउ न कीजै, रसना राम रसाइनु पीजै।
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥
उस वति निन्दा करै नरु कोई, नामे श्री रगु मेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माधउ > माधो, मों सिउ > मो सों, परिउ > पर्यो, तोसिउ > तो स्यों, सुनन कउ > सुनन कौ, करउ > करों, निंदउ > निंदौं में उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व > उ की परवता शौरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बउरी < बाउल < व्याकुल, नामदेउ < नामदेव, देउ < देव, माधउ < माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, खास तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवनवृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,[1] पंढरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

[1] आउट लाइन आव द रीलिजस लिटरेचर इन इण्डिया, पृ० २१०–३००।

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

> जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दंतिहिं ठाउ धरा ।
> रिउवच्छ वियारे छलतणु धारे बंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा ॥
> कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा ।
> करुणा पयले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा ॥
>
> (प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अवहट्ठ में अनुवाद किया होगा किन्तु अव्वल तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य-इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक ब्रजभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखीं थीं।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७६-१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।[2] जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

> वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
> जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतः ।
> शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः
> स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः ॥
>
> (गीत० ११४)

इस श्लोक में आये कवियो का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।[3] कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

---

१. राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमन्त्रिवरेणोमापतिधरेण सहः (दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बाँकीपुर १८१० पृ० १२

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

> जिण वेंभ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहिं ठाउ धरा।
> रिउवच्छ वियारे छलतणु धारे वंधिअ सत्तु सुरज्ज हरा॥
> कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसअ केसि विणास करा।
> करुणा पयले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा॥
>
> (प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अक्षरशः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अपभ्रंश में अनुवाद किया होगा किन्तु अव्वल तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है। जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य-इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक ब्रजभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखीं थीं।[1]

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७९-१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।[2] जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

> वाचः पल्लवयुमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
> जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरुहद्रुतः।
> शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः
> स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः॥
>
> (गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है।[3] कुछ लोग जयदेव को उड़ीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

---

१. राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०६, तरन तारन संस्करण।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमन्त्रिवरेणोमापतिधरेण सहः

(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बाँकीपुर १८१० पृ० १२

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा व्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणित वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। मेकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और ज्ञानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कंदरा के निकट मुलाकात हुई थी।[1] इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका आविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मांस बेचना पुश्तैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।[2]

> नृप कनिया कै कारने इकु भइया वेषधारी।
> कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
> तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।
> सिंह सरन कत जाइये जउ जंबुक ग्रासै ॥२॥
> एक बूँद जल कारने चात्रिक दुख पावै।
> प्रान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
> प्रान जो थाके थिरु नहीं कैसे बिरमावउं।
> बूँडि मुवै नउका मिलै कहु काहि चढावउं ॥४॥
> मैं नाहीं कछु हउं नहीं किछु आहि न मोरा।
> अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन व्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जउ>जो, नउका>नौका, बिरमावउ>बिरमावौं, चढावउ>चढ़ावौं आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुछेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।[3] यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मालूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

---

१. मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२
२. राग बिलावल पद १, पृ० ८५८
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा व्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। मेकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और ज्ञानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कंदरा के निकट मुलाकात हुई थी।[1] इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका आविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मांस बेचना पुश्तैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।[2]

> नृप कनिया कै कारने इकु भइया भेषधारी।
> कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
> तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।
> सिंह सरन कत जाइये जउ जंबुक ग्रासै ॥२॥
> एक बूँद जल कारने चात्रिक दुख पावै।
> प्रान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
> प्रान जो थाके थिरु नहीं कैसे बिरमावउं।
> बूँडि मुवै नउका मिलै कहु काहि चढ़ावउं ॥४॥
> मैं नाहीं कछ हउं नहीं किछु आहि न मोरा।
> अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन व्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। जउ>जो, नउका>नौका, बिरमावउ>बिरमावौं, चढ़ावउ>चढ़ावौं आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुछेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।[3] यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मालूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इनकी

---

१. मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२
२. राग बिलावल पद १, पृ० ८५८
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें संकलित की गई हैं। पुस्तक में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बड़थ्वाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण-काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का संकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में संकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित खड़ी बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अंधमति सोयो रे॥
अति उतंग तरु देषि सुहायो सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र कल्त्र विषै सु अति सीस धुनि-धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साधु की संगति अंतरमन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासे श्रीपत पद गहे न जोयो रे॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरष तन धरि कहा कमायौ, राम भजन बिनु जनम गमायौ।
राम भगति गति जाँणी नाहीं, भंदूँ भूली धंधा माँही॥
मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियौ।
नारी सेती नेह लगायौ, कबहूँ हिरदै राम न आयौ॥
सुप माया सूँ परो पियारो, कबहूँ न सिवर्‍यो सिरजन हारौ।
स्वारथ माहि चहूँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहूँ न गायौ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग बसन्त

कत जाइये रे घर लागो रंग मेरा चितु न चलै मन भइउ पंगु।
एक दिवस मन भई उमंग घसि चोआ चन्दन बहु सुगंध।
पूजन चाली ब्रह्म ठांइ, सो ब्रह्म बताइउ गुरु मन ही मांहि॥१॥
जहाँ जाइये तँह जल पषान, तू परि रहिउ है सम समान।
वेद पुरान सब देषे जोइ उहाँ तउ जाइयें जउ इहाँ न होइ॥२॥
सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत ब्रह्म, गुर का सबद काटै कोटि करम॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो>लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनायें सकलित की गई हैं। पुस्तक में स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के लिखे हुए कुछ महत्वपूर्ण लेख भी सगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'सस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बडथ्वाल ने बडी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सास्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में सकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित खडी बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि बिनु जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अधमति सोयो रे॥
अति उतग तरु देखि सुहायो सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु अति सीस धुनि धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साधु की सगति अतरमन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अश इस प्रकार है—

मूरख तन धरि कहा कमायौ, राम भजन बिनु जनम गमायौ।
राम भगति गति जाँणी नाहीं, भटूँ भूली धधा माँहीं॥
मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियौ।
नारी सेती नेह लगायौ, कबहूँ हिरदै राम नहिं आयौ॥
सुप माया सूँ परो पियारो, कबहूँ न सिवन्यो सिरजन हारौ।
स्वारथ माहि चहूँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहूँ न गायौ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग बसन्त

कत जाइयै रे घर लागो रग मेरा चितु न चलै मन भइउ पगु।
एक दिवस मन भई उमग घसि चोआ चन्दन बहु सुगध।
पूजन चाली ब्रह्म ठाइ, सो ब्रह्मु बताइउ गुरु मन ही माहि॥१॥
जहाँ जाइये तँह जल पषान, तू परि रहिउ है सभ समान।
वेद पुरान सब देखे जोइ उहाँ तउ जाइयौ जउ इहाँ न होइ॥२॥
सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत ब्रह्म, गुरु का सबद काटै कोटि करम॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो>लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और बिहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं ! भोजपुरी तो बिहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है।'[1] डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थीं, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।[2] कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।[3] कबीर मतावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मंगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित विवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असंभव नहीं है।'[4] इस बीजक में कई प्रकार की भाषायें दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

3 Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves Origin and Development of the Bengali Language p 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और विहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो विहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि यह खिचड़ी है।'[1] डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी कुछ वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थीं, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।[2] कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।[3] कबीर मतावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, वेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सागर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित विवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असभव नहीं है।'[4] इस बीजक में कई प्रकार की भाषायें दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

3 Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves Origin and Development of the Bengali Language p 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

त्राहि त्राहि कर हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु विचारा।
रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख मंडन राम को नामा।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा।
सुम्रित वेद सबै सुनें नहीं आवै कृत काज
नहीं जैसे कुंडिल बनिल दुख सोभित बिन राज
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जनि अंतह वै जासी
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समझ विष संगा

हरि चरति से–[1]

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांडि अकाजै आना
कपटी लोग सब भे धरमार्थी, पोट वहदि नहि चीन्हे बियाधी
कुअर बाँधे भूपन मरई, भादर सो पर सेइ चराई॥
चन्दन काटि कराले जे लावा, आँबि काटि बबूर बोआवा।
कोकिल हंस मजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली॥
सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार।
लखन सेनि ताह न बसै काढि जो खौंहि उधार॥

कबीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है। फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का संकेत देते हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (षष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते हैं। कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पड़ता है। साखियों की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली। अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे। एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है। (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं। नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं।

यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम को नाम।
लेखणि करूं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ॥७९॥
कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ॥८०॥
हाँसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान।
काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान॥६७॥

---

1. हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १९४४–४८

ग्राहि ग्राहि कर हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु विचारा।
रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख भंडन राम को नामा।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा।
सुम्रित वेद सबै सुनैं नहीं आवै कृत काज
नहीं जैसे कुंडिल वनिल दुख सोभित विन राज
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जनि अंतइ वै जासी
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समरू विप संगा

हरि चरति से—[1]

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमार्थी, पोट वहदि नहि चीन्हे वियार्थी
कुअर बाँधे भूपन मरई, आदर सो पर सेइ चराई॥
चन्दन काटि करीले जे लावा, औं वि काटि ववूर बोआवा।
कोकिल हंस मजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली॥
सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार।
लखन सेनि ताह न बसै काढ़ि जो खाँहि उधार॥

कबीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है। फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टतः अवधी का संकेत देते हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (षष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना देते हैं। कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पड़ता है। साखियों की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली। अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे। एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है। (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के दोहे भी कम नहीं हैं। नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं।

यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम को नाम।
लेखणि करूं करंक की लिखि लिखि राम पठाउँ॥७१॥
कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ॥८०॥
हँसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान।
काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान॥६७॥

1. हरिचरित्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १६४४-४८

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासो में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।[1]

मन नहिं छाडै विषै विषै न छाडै मन कौ।
इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ॥
खडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूँ जल में प्रतिब्यब त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पुन्या सकल रस॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'बेसास कौ अंग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पड प्रकट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दियौ॥
उरध पाँव अरध सीस बीच पपा इम रषियौ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चषियौ॥
इहि भांति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छछरै।
कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्ती अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करक्खत वरक्खत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै<जाणिज्जइ, कीजै<किज्जइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश षष्ठी) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठी) रषियो>रक्खियो (रक्खउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब>प्रतिब्यब, उदर>उद्र उदकैं>उदिक्कै, नदहु>न्यदहु में शब्दों को तोडमरोड कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस सक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था।[2] और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हो जाती हैं क्योंकि 'जो ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर बगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बडा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के सगीतकारों की राग रागिनियाँ

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६–५७
२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परख, पृ० २१७

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासो में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।[1]

> मन नहिं छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन कौ।
> इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ॥
> खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
> ज्यूँ जल में प्रतिब्यंब त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै॥
> सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
> कहै कबीर ब्यन्दहुनरा ज्यों जल पूर्या सकल रस ॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'बेसास कौ अंग' में दिया हुआ है।

> जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पड प्रकट कियौ।
> सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दियौ॥
> उरध पाँव अरध सीस बीस पखा इम रषियौ।
> अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चषियौ॥
> इहि भांति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छंछरै।
> कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्ती अपभ्रंश के रूपों का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करक्खत बरक्खत' का प्रयोग करना ही पड़ा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा काफी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै<जाणिज्जइ, कीजै<किज्जइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश षष्ठी) रामहिं (राम को) जठराहँ (श्राहँ, षष्ठी) रषियो>रक्ख्यो (रक्खउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब>प्रतिब्यंब, उदर>उद्र उदकतैं>उदिकयै, बदहु>ब्यदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस संक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था।[2] और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी बातें तो हो जाती हैं क्योंकि 'जो ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर बंगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग रागिनियाँ

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६–५७

२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परख, पृ० २१७

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० सवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५–१६३० सवत्) का बताते हैं।[4] अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता। अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।

नीचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४२)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की बाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] *गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं।* श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (बाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रह्लाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १९२६–३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५१
२. भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५
३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३०६
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५–५८२
५. रैदास की बाणी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० संवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५–१६३० संवत्) का बताते हैं।[4] अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता। अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।

नीचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों संग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रहलाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १९२९–३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

---

१. मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५९

२. भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५

३. ऐन आउटलाइन आव दी रिलीजस लिटरेचर आव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५–५८२

५. रैदास की वाणी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २५१

अति अपार संसार भवसागर जामें जनम मरना संदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच सगी मिलि पीडियो प्रान यो जाय न सक्यो बैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल बधु ते भारजा भखैं दसो दिस सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप बिसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चिंतना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलत: खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पड़ती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते है। ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं।

दूधु बछरैं थनहु बिदारिउ फूल, वभँर जल मीनि बिगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चर् हावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
मैलागिरि बैरहे हैं भुइअंगा, बिषु अम्रितु बसहिं इक संगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहि वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
मनु अरपउं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरंजन पाउउ ॥४॥
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फाकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुबानी ।
खड खड करि भोजन कीनो, तउ न बिसारिउ पानी ॥२॥
आपन बापै नाहि किसी को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत बिआपिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाढी अब इह का सिउ कहिऐ ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुख अजहूँ सहिऐ ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया कै हाथि बिकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पचन मेरो मन जु बिगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देखउ तत दुख की रासी, अजौं न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन खलु बधु करि मारिउ, बडो निलाजु अजहू नहि हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, बिनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लोभ भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पंच सर्गी मिलि पीडियो प्रान यो जाय न सक्यो बैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल बधु ते भारजा भखै दसो दिष सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
बद रैदास बैराग पद चिंतना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियो, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पडती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं। ये तीनों पद गुरु ग्रन्थ से हैं।

दूधु बछरै थनहु बिटारिउ फूल, भवँर जल मीनि बिगारउ ॥१॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चर्हावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
मैलागिरि बैरहे हैं भुइअंगा, बिखु अम्रितु बसहिं इक संगा ॥२॥
धूप दीप नइवेदहि वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
मनु अरपउं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरंजन पावउ ॥४॥
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बांधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फांकिउ अरु काटिउ, रांधि कीउ बहुबानी ।
खंड खंड करि भोजन कीनो, तउ न बिसारिउ पानी ॥२॥
आपन बापै नाहि किसी को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत बिआपिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाढी अब इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुख अजहूँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया के हाथि बिकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पचन मेरो मन जु बिगारिउ, पलु पलु हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
जत देखउ तत दुख की रासी, अजैं न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
इन दूतन खलु बधु करि मारिउ, बडो निलाज अजहू नहि हारिउ ॥५॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, बिनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

> इहि बिधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागा
> मिले प्रतषि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् संवत् १४७२ अनुमानित किया है।[1] मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से झूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

> घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
> तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए॥
> आसपास कृषकार खेत की करत बड़ाई।
> भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई॥
> अचरज मानत जगत में कहुँ निपज्यो कहुँ वै बयो।
> धन्य धना के भजन को बिनहिं बीज अंकुर भयो॥
>
> —भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।[2]

> रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर बिबहित जानसि कोई।
> जे धावहिं पढ ब्रहिमंड कउ करता करै सु होई॥ रहाउ॥
> जननि केरे उदर उदक महि पिंडु कीया दस दुआरा।
> देइ अहारु अगिनि महि राखै ऐसा खसमु हमारा॥१॥
> कुंभी जल माहि तन तिसु बाहरि पंष खीरु तिन्ह नाहीं।
> पूरन परमानन्द मनोहर समझि देखु मन माही॥२॥
> पाषणि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारग नाहीं।
> कहै धना पूरन ताहू को मत रे जीअ डराहीं॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल सीमा के अन्तर्गत आता है। इनका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में

---

१. मेकालिफ–दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६

२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८, धनासरी पद १ पृ० ६९५

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वय भक्त हो जाने की बात लिखी है।

> इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागा
> मिले प्रतषि गुसाइयां धन्ना वड भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।[1] मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से झूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

> घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
> तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए॥
> आसपास कृषकार खेत की करत बड़ाई।
> भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई॥
> अचरज मानत जगत में कहुँ निपज्यो कहुँ वै वयो।
> धन्य धना के भजन की बिनहिं बीज अंकुर भयो॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।[2]

> रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवहित जानसि कोई।
> जे धावहिं षड ब्रहिमंड कउ करता करै सु कोई॥ रहाउ॥
> जननि केरे उदर उदक महि पिंडु कीया दस दुआरा।
> देइ अहारु अगिनि महि राषै ऐसा षसमु हमारा॥१॥
> कुंभी जल माहि तन तिसु बाहरि पप षीरु तिन्ह नाहीं।
> पूरन परमानन्द मनोहर समझि देषु मन माही॥२॥
> पाषणि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाहीं।
> कहै धना पूरन ताहू को मत रे जीअ डराहीं॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल सीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में

1. मेकालिफ-दि सिख रिलीजन भाग ५ पृ० १०६
2. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८, धनासरी पद १ पृ० ६९५

तुझ बिनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ बिनु अवर न कोई हरे
सबी रंगी रूप तूं है तिसु वरबसै जिसु नदिर करे
सासु बुरी घर वासुन देवै पिउ सिउं मिलन न देइ बुरी
सखी साजनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तें नदिर धरी ॥२॥
आप बिचारि मारि मनु देखियां तुम सौं मीत न अवरु कोई।
जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुख देवहि करहि सोई ॥३॥
आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निरास भई
तुरिआ वसथा गुरु मुखि पाइऐ संत सभा की उतलही ॥४॥
गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
जो नर दुख में दुख नहि मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके कञ्चन माटी जानै ॥
नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक ते रहै नियारो नाहि मान अपमाना ॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः व्रज का है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) सिउँ, सउँ, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिवं > जिमि, तिवं > तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खड़ी बोली की भी छाप अवश्य है, मिलिया, राता, देखिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं। किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध व्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी संकलित हैं। दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे व्रज के ही हैं। क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ।
भरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
धनवंता इव ही कहै अवरी धन कउ जाउ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
जिनकै पलै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर।
जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ॥४॥
वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले बांह।
भोला वैद न जाणई करक कलेजे मांह ॥५॥

तुझ बिनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ बिनु अवर न कोई हरे
सखी रंगी रूप तूं है तिसु वखसै जिसु नदरि करे
सासु बुरी घर वासुन देवै पिउ सिउं मिलन न देइ बुरी
सखी साजनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तें नदरि धरी ॥२॥
आप बिचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई।
जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुखु दुप देवहि करहि सोई ॥३॥
आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निरास भई
तुरिआ वसथा गुरु मुखि पाइऐ संत सभा की उतलही ॥४॥
गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
जो नर दुप में दुप नहि मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके कञ्चन माटी जानै॥
नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना।
हरप सोक ते रहै नियारौ नाहि मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहे निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सो ज्यों पानी संग पानी॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) मिउँ, सउँ, कउ, तें (परसर्ग) सरेवउँ>सरेवौं क्रिया, जिवं>जिमि, तिवं>तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खड़ी बोली की भी छाप अवश्य है, भिखिया, राता, देपिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं। किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी संकलित हैं। दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं। क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ।
मरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
धनवंता इन हीं कहै अवरी धन कउ जाउ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर।
जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ॥४॥
वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले बांह।
भोला वैद न जाणई करक कलेजे मांह ॥५॥

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उडीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह सम्प्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।[1] उड़ीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबन्ध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैली हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में बारह निरंजनी महन्तों का वर्णन किया हुआ है जिनमें हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन राघो ! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

> रामानुज की पधित चली लछमी सूँ आई।
> विस्नुस्वामि को पधित सुतौ संकर ते आई॥
> मधवाचार्य पधित ब्रह्म ब्रह्मा सुविचारा है।
> नींबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा।

---

१. मिडिवल मिस्टिसिज्म आव इण्डिया, पृ० ७०

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह सम्प्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।[1] उड़ीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबन्ध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैली हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में बारह निरंजनी महन्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हडदास और मोहनदास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कबीर, नानक, दादू, जगन राघो ! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित चली लछमी सूँ आई।
विष्णुस्वामि की पधित सुती संकर ते आई॥
मधवाचार्य पधित ज्यौं ब्रह्मा सुविचारा है।
नींबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा।

---

१. मिडिवल मिस्टिसिज्म आव इण्डिया, पृ० ७०

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छइसार
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयो हरि अवतार
पन्द्रह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्द्रह सै छप्पन समै वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरष रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोलह सौ को छुट्टि सुदि फागुण मास
परम धाम मैं प्रापती नगर डींड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मालूम पड़ता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिसमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मंगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में निधिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेसे चोहतरे जन्म लियो हरिदास
सांखल से घर अवतरे छतरी वंश निवास
छतरी वंश निवास तेज सो मुरति विराजै
छतरि भेष सो सूरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरष रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्द्रसौ पिचाणवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि की छठ को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मनराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदासत संवत् ससवार, प्रकटे सुदेस सुरधर मभार।
पचासौ पञ्चानवे शुद फागुण छठि जाण।
विरा सो वपुराखि कै पहुँचे पद निर्वाण॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५-१५९५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पड़ता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५९७ विक्रमी) मानते हैं।[1] इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

---

1. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७ वर्ष ४५, पृ० ७७

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग ज्ञान भगति कूं लीयौ हरि अवतार
पन्द्रह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग से आप कियो भवपार
पन्द्रह सै छप्पन समै वसन्त पञ्चमी जान
तब हरि गोरष रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोल्ह सौ को छट्टि सुदि फागुण मास
परम धाम मे प्रापतौ नगर डींड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मालूम पड़ता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मंगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेसे चोहतरे जन्म लियो हरिदास
सांखल से घर अवतरे छतरी वंश निवास
छतरी वंश निवास तेज सो सुरति विराजे
छतरि भेष सो सूरमाय को दूध न लाजै
मिलियो गोरष रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्द्रसौ पिचाणवे कियो जोति में वास
फागुन सुदि की छठ को परम जोति परकास

इसी से मिलता जुलता दूसरा उल्लेख मनराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदाशत संवत् सहचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मझार।
पचासौ पञ्चानवे शुद फागुण छठि जाण।
विरा सो वपुराखि कै पहुँचे पद निर्वांण॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पड़ता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५-१५६५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पड़ता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५६७ विक्रमी) मानते हैं।[1] इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

---

1. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७ वर्ष ४५, पृ० ७७

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। संत शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय हैं अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यंजनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव सम्प्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नहीं है। सम्प्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आविर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वां विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वां वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस सम्प्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की तरह इस सम्प्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस सम्प्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में सम्बद्ध माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'[1] शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५९५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चीजें हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुत: ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क सम्प्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क सम्प्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।[3] डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५
३. वही, पृ० २५

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। संत शैली के रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यंजनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नहीं है। सम्प्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आविर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वां विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वां वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस सम्प्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की तरह इस सम्प्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस सम्प्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में संबद्ध माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५६५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'[1] शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५६५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चीजें हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय गत पहली रचना होने के कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] बिहारीशरण जी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संवत् गलत दिया है। निम्बार्क सम्प्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क सम्प्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।[3] डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५
३. वही, पृ० २५

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद बैद हद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय में श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है।' जंगली' शब्द लोगों के असभ्य, बर्बर और अलंकृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जांगल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। सम्भवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जांगल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पांचाल था इसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजांगल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जांगल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्पोदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जांगल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीलू, कर्कन्धु आदि से भरा हुआ देश जांगल कहा जाता है।[2] इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जांगल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जांगल का नाम साथ आता है।[3] मद्र रावी और झेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जांगल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सम्बन्धी छप्पय में 'जंगली देश' का अर्थ जांगल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक -उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्बार्क पीठ स्थापित है। वहीं परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जांगल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक काफी बड़े भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय सापेक्ष्य व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम सागरमें निम्रमती ग्रन्थ की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

---

१. अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः
संज्ञेयो जांगलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)

२. आकाशः शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादपः
शमी-करीर बिल्वार्क पीलुकर्कन्धुसंकुलः (भावप्रकाशम्)।

३. तत्रैमे कुरुपांचालाः शल्वा माद्रेय जांगलाः। (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ६)

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद बैद हद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय में श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के असभ्य, बर्बर और असंस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जांगल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। सम्भवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जांगल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पांचाल था इसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजांगल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जांगल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्पोदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जांगल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीलु, कर्कन्धु आदि से भरा हुआ देश जांगल कहा जाता है।[2] इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जांगल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जांगल का नाम साथ आता है।[3] मद्र रावी और झेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जांगल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सम्बन्धी छप्पय में 'जंगली देश' का अर्थ जांगल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्बार्क पीठ स्थापित है। वहीं परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जांगल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक काफी बड़े भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय सापेक्ष व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम सागरमें निप्रमती ग्रन्थ की पुष्पिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है :

---

१. अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः
संज्ञेयो जांगलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)

२. आकाशः शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादपः
शमी-करीर बिल्वार्क पीलुकर्कन्धुसंकुलः (भावप्रकाशम्)।

३. तत्रेमे कुरुपांचालाः शल्वा माद्रेय जांगलाः। (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ९)

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१९३२–३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।[1]

(१) साखी का जोडा (२) छंद का जोडा (३) सवैया दस अवतार का (४) रघुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार सुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छप्पय गज ग्राह कौ (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरबोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समझणी लीला (१८) तिथि लीला (१९) नक्षत्र-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग फुटकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। साँच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियों में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दूतर तरना। पड़िवा प्रीत पीव सूँ लागी, मसा मिथ्या तब सबया भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मगल अंतर लै सारी। पड़िवा परमतत त्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम लवलीन करने की बात करते है।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोम वार ससि अमृत झरै, पीवत वेगि तवै निस्तरै

परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढंग से कहा गया है·

वार-वार निज राम सभारूँ,
रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
सोम सुरति करि सीतल धारा,
देष सकल व्यापक व्यौहारा
सोन विसरि जाको निस्तारा,
समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।

---

१. प्रथम भाग, सपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

१३ ग्रथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१६३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान मे हस्तलिखित हिन्दी ग्रथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रथों की सूची दी है।[1]

(१) साखी का जोडा (२) छद का जोडा (३) सवैया दस अवतार का (४) रघुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार सुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छप्पय गज ग्राह को (६) प्रहलाद-चरित (१०) अमरबोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समभणी लीला (१८) तिथि लीला (१६) नक्षत्र-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग फुटकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोडकर बाकी ११ ग्रथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। साँच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियों में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दुतर तरना। पडिवा प्रीन पीव सूँ लागी, मसा मिथ्या तब सब्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मगल अतर लै सारी। पडिवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोडने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकडकर प्रियतम ल्वलीन करने की बात करते है।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

> कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
> सोम वार ससि अमृत झरै, पीवत वेगि तवै निस्तरै

परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढग से कहा गया है :

> वार-वार निज राम सभारूँ,
> रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
> सोम सुरति करि सीतल वारा,
> देष सकल व्यापक व्यौहारा
> सोन विसरि जाको निस्तारा,
> समदृष्टि होइ सुमरि अपारा।

---

1. प्रथम भाग, सपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

स्व० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम की रचनायें ज्ञात नहीं हैं वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्वपरता संबन्ध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनायें कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें स्वामी सुखानन्द और कल्पना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम संभव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।"[1]

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्त्ववेत्ता की कविताओं से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'हितू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क सम्प्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।[2] इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरंग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत[3] का एक पद—

सुकर मुखर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर।
गोर स्याम अभिराम अति छवी फबी कछु थोर॥
गोर स्याम अभिराम विराजैं।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग सुकर मुखर निरखत नहिं त्याजैं।
कंठ सो कंठ बाहु ग्रीवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा छाजैं॥
नैन चकोरि विलोक वदन ससि आनद सिंधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं॥
घटा छटा आंख डल कोदंड दोउ तन एक देस छबि छाजैं।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर बाजैं॥
अमिट अटकि परे दंपति दृग मूरति मनहु एक ह्वै साजैं॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी[4] से—

हौं कहा कहौं सुख फूल भई।
फूले फूल फबें सब बन में तन मन की सब सूल गई॥
फूल दिसन विदिसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई।
फूली लता द्रुम सरित सरब में खग मृग सब ठां फूल ठई॥
फूल निकुंज निलय निकरनि में बरन बरन में फूल नई।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई॥

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवत् १९९७, पृ० ३३४
२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८
३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।
४. निम्बार्क—माधुरी में संकलित

स्व० डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनाकाल ज्ञात नहीं है वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्वपता संबन्ध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनायें कबीर के नाम से चल पडी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें स्वामी सुखानन्द और वरुना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम समझ है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पडी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'[1]

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्त्ववेत्ता की कविताओं के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'हितू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क सम्प्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।[2] इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत[3] का एक पद—

सुकर मुकर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर।
गोर स्याम अभिराम अति छवि फबी कछु थोर॥
गोर स्याम अभिराम विराजैं।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग मुकर मुकर निरखत नहि त्याजैं।
कंठ सो कंठ बाहु ग्रीवा मिलि प्रतिबिम्बित सन उपमा लाजैं॥
नैन चकोरि विलोक बदन ससि आनद सिंधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं॥
घटा छटा अंस दल कोदंड दोउ तन एक देस छबि छाजैं।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर बाजैं॥
अमित अटकि परे दंपति दृग मूरति मनहु एक ही साजैं॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी[4] से—

हौं कहा कहीं सुख फूल भई।
फूले फूल फबें सब वन में तन मन की सब सूल गई॥
फूल दिसन विदसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई।
फूली लता द्रुम सरित सरब में खग मृग सब ठां फूल दई॥
फूल निकुंज निलय मिकरनि में बरन बरन में फूल नई।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई॥

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, संवत् १९९७, पृ० ३३४
२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८
३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।
४. निम्बार्क—माधुरी में संकलित

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कछु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानैं
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
तत्ववेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रह्या ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उम्र में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखतीं जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।[1] नरहरि की रचनाओं के अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के बिम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी सवत् १५६७ के बैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्त्व का है ।[2]

नेक बख्त दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अव्वल अली खुदाय दिया तिरिपार मल्क जर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १६४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १६६६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० सं० ५

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कछु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानैं
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
तत्ववेत्ता तिहुँ लोक में बिविध मार्ग विस्तरि रह्या ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उम्र में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखतीं जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।[1] नरहरि की रचनाओं के अंतर्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के बिम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५६७ के बैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्त्व का है ।[2]

नेक वख्त दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अव्वल अली खुदाय दिया तिरिपार मल्क जर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९९६ । हिन्दुस्तानी, भाग १७, पृ० सं० ५

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९. उद्वृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्वृत्त स्वरों को संधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। व्रजभाषा में उद्वृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (बादु १ > व्रज करौं), गहइ (बादु ११ > व्रज० गहै), रष्यउ (बादु ११ > व्रज० राखौ), कहइ (बादु १२ > व्रज० कहै), लहइ (बादु > व्रज लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ > पठायौ, बुलाएउ > बुलायौ, बनाएउ > बनायौ, कीन्हेउ > कीन्हौं, दीन्हेउ > दीन्हौं, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, साधेउ > साध्यौ, अवराधेउ > अवराध्यौ, कलपइ > कलपै, तलपइ > तलपै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तज रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। व्रज में इन्हीं के कह्यौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ > नर० साधेउ > व्रज साध्यौ, अप० अवराधिउ > नर० अवराधेउ > व्रज अवराध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्त्व मिलते हैं। जगदीस कह (बादु १ > जगदीस कौं), अप्पु मह (बादु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (बादु १०), तिन्ह के (बादु ११६ > तिनकैं), इत्यह (बादु ११७, षष्ठी विभक्ति युक्त), जुगह (बादु ३।७२ सविभक्तिक षष्ठी), चित्तह गुनिय (बादु ३।७३ सविक्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग व्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरंभिक व्रज में मिलता है (देखिये §३१७) किन्तु परवर्ता व्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (बादु ४) केसव भट्ट पह (बादु ३।७७) अनाथ नाथ कउ (बा० मासा ११३, व्रज कौ) एकह (बारह मासा ११३ इस को) परसर्गों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रंथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिलता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के व्रजभाषा ग्रंथ में भी 'नै' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पडती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परपरा का पालन ही दिखाई पडता है।

§ २२९ उद्वृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रश से उद्वृत्त स्वरों को सधि प्रक्रिया से सयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्वृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वादु १ >ब्रज करौं), गहइ (वादु ११ >ब्रज० गहै), रष्पउ (वादु ११ > ब्रज० राखौ), कहइ (वादु १२ >ब्रज० कहै), लहइ (वादु >ब्रज लहै), रुक्मिणी मगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पडता। जैसे–

पठाएउ >पठायौ, बुलाएउ >बुलायौ, बनाएउ >बनायौ, कीन्हेउ >कीन्हौं, दीन्हेउ > दीन्हौं, रोवइ >रोवै, जोवइ >जोवै, साधेउ >साध्यौ, अवराधेउ >अवराध्यौ, कलइ >कलै, तलइ >तलै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तज रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कह्यो, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ >नर० साधेउ >ब्रज साध्यौ, अप० अवराधिउ >नर० अवराधेउ > ब्रज अवराध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्व मिलते हैं। जगदीस कह (वादु १ >जगदीस कौं), अप्पु मह (वादु २ >आपु मैं), मोहिं लगि (वादु १०), तिन्ह के (वादु ११६ >तिनकें), हत्थह (वादु ११७, षष्ठी विभक्ति युक्त), जुगह (वादु ३।७२ सविभक्तिक षष्ठी), चित्तह गुनिय (वादु ३।७३ सविक्तिक सप्तमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पडते।

§ २३१ परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरभिक ब्रज में मिलता है (देखिये §३१७) किन्तु परवर्ता ब्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वादु ४) केसव भट्ट पह (वादु ३।७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११३, ब्रज कौ) एकह (बारह मासा ११३ इस कौ) परसर्गों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिलता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायँगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

कुम्भ को सबद्ध मान लिया। टाड के इस निष्कर्ष ने काफी भ्रान्ति फैलाई और बहुत से विद्वानों ने कई प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर मीरा को उक्त काल से संबद्ध बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राम माधोराव त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'क्लैसिकल पोयट्स आव गुजरात' में मीरा का समय १५वीं शताब्दी निर्धारित किया।[1] उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहन लाल झवेरी ने भी मीरा का जन्म १४०३ ईस्वी के आसपास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६० वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।[2] श्री हरविलास सारडा ने अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में मीरा को राव दूदा (सन् १४६१-६२) के चौथे पुत्र रतन सिंह की पुत्री बताया है।[3] विलियम कुक ने एनल्स आव राजस्थान में जेम्स टाड के मीरा-विषयक मत के साथ सारडा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरा को १५वीं शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री देवीप्रसाद जैसे इतिहासकार बिल्कुल भिन्न धारणा रखते हैं। डा० ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराणा कुम्भा ने और छोटा उसकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराणा कुम्भा की रानी लिख दिया। जो मानने योग्य नहीं है। मीराबाई महाराणा सांगा सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की स्त्री थी।[4] जो मन्दिर मीराबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव में राणा कुम्भा के द्वारा ही संवत् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि वाराह दोनों ही मन्दिरों की प्रशस्तियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।[5] मुंशी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पहलू से टाड वाली मान्यता का प्रतिवाद किया। उन्होंने लिखा कि 'यह बिल्कुल गलत है क्योंकि राणा कुम्भा तो मीराबाई के पति कुँवर भोजराज के परदादा थे। और मीराबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े दर्शनीय लिखने वाले से क्योंकर हो गई। राणा कुम्भा जी का देहकाल संवत् १५२५ में हुआ था उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदा जी को मेड़ता मिला ही नहीं था। इसलिए मीराबाई राणा कुम्भ की रानी नहीं हो सकतीं। मुंशी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जन्म काल संवत् १५५५ के लगभग माना है।[6] ओझा के अनुसार मीरा का विवाह १८ वर्ष की उम्र में राणा संग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। विवाह के बाद संवत् १५८० में भोजराज का देहान्त हो गया। मुंशी देवीप्रसाद ने मीरा का मृत्युकाल संवत् १६०३ माना है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से मीरा के जीवन-तथा रचना काल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थीं और उन्होंने १५८० संवत् के आसपास भक्ति सम्बन्धी कविताओं की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यपि मीरा सूर की पूर्ववर्ती नहीं थीं,

१. जी० एम० त्रिपाठी, क्लैसिकल पोयट्स आव गुजरात, पृ० १०
२. के० एम० झवेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ३०
३. महाराणा सांगा, अजमेर, १९१८, पृ० ६५-६६
४. राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड पृ० ६७०
५. वही, पृ० ६२२
६. मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ० ३१-३२

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों–ब्रज और खड़ी–में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है।

(१) नरसी जी रो माहेरो।
(२) गीत गोविन्द की टीका।
(३) सोरठ के पद।
(४) मीरा बाई का मलार।
(५) राग गोविन्द।
(६) गर्बा गीत।
(७) फुटकल पद।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी संदिग्ध है। 'नरसी जी रो माहरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है। नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था। इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती। गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिल्कुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है। इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है:

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ।
पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाम सुख श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को माहेरो मंगल गावै मीरां दासी ॥१॥

छत्री वंस जनम मम जानो नगर मेड़ते वासी।
नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इतिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लीन्हें हरि मन्दिर में आये।
भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मंडल को देस बखानूँ संतन के जस वारी।
को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारी ॥४॥

भये प्रसन्न मीरां तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामां।
नरसी की विध गाय सुनाऊँ सारे सब ही कामां॥

बीच में एक जैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी पिण ढूँढ न पाये॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों–ब्रज और खड़ी–में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है।

(१) नरसी जी रो माहेरो।
(२) गीत गोविन्द की टीका।
(३) सोरठ के पद।
(४) मीरा बाई का मलार।
(५) राग गोविन्द।
(६) गर्वा गीत।
(७) फुटकल पद।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी संदिग्ध है। 'नरसी जी रो माहरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लड़की या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है। नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था। इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती। गुजराती विद्वानों ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिल्कुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है। इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है:

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ।
पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को माहेरो मंगळ गावे मीरां दासी ॥१॥

छत्री वंस जनम भय जानो नगर मेड़ते वासी।
नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इतिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लीन्हें हरि मन्दिर ये आये।
भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मदल को देस बखानूँ संतन के जस वारी।
को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारी ॥४॥

भये प्रसङ्ग मीरां तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामां।
नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब ही कामां ॥

बीच में एक बैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी पिण ढूँढ न पाये ॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भये सखि मन के भाये ॥२॥

यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसल्मानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहला युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के ह्रास का कारण भी मानते हैं।[1] यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वंस-नीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसल्मान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसल्मानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्थापत्य में ताजमहल, साहित्य में सूफी प्रेमाख्यानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सृजन था। श्री भातखण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि कम से कम मैं व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संपर्क हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अपनी शास्त्रीय कमजोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मधुर और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।[2]

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत सम्मान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § ८२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिंगल-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बोल प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

खुसरो

§ २३९. भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर खुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर खुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अमूल्य निधि हैं। मजीर, साजगरी, इमन, उश्शाक, मुवाफ़िक़, ग़नम, जिल्फ, फरगना, सरपर्दा, बाखरज़, फिरदोस्त, मनम् जैसे रागों को उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्ययंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्ययंत्रों के निर्माण में भी खुसरो ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया।

खुसरो का जन्म एटा जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम अबुलहसन मुहम्मद हसन था। सात वर्ष की उम्र में पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुल्मुल्क ने किया। बल्बन ने इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

---

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all

Capt Day; Music of Southern India PP 3

२. वी० एन० भातखण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इण्डिया, पृ० २०–२१

यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसल्मानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहरा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के ह्रास का कारण भी मानते हैं।[1] यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वंस-नीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसल्मान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसल्मानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्थापत्य में ताजमहल, साहित्य में सूफी प्रेमाख्यानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सृजन था। श्री भातखण्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि कम से कम मैं व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संपर्क हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अपनी शास्त्रीय कमजोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मधुर और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।[2]

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत सम्मान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § ८२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के पिंगल-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बोल प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

खुसरो

§ २३९. भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर खुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर खुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अमूल्य निधि हैं। मजीर, साज़गरी, इमन, उश्शाक, मुवाफ़िक, ग़नम, ज़िल्फ, फरग़ना, सरपर्दा, बाखरज़, फिरदोस्त, मनम् जैसे रागों की उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्ययंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्ययंत्रों के निर्माण में भी खुसरो ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया।

खुसरो का जन्म एटा जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यमुद्दीन मुहम्मद हसन था। सात वर्ष की उम्र में पिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुल्मुल्क ने किया। बलबन ने इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all
Capt Day; Music of Southern, India PP 3

२. वी० एन० भातखण्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इन्डिया, पृ० २०-२१

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।[1] डा० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं :

१—मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढ़ावत
वाले चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हि० अलोचना० इति० पृ० १२१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागै, विरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४—हजरत निजामुद्दीन चिश्ती जरजरी बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं धाऊँ पाऊँ हजरत ख्वाजउद्दीन
शकरगंज सुलतान मशायख महबूब इलाही
निज़ामुद्दीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाही

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्राय प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा संबंधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और व्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक काउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य संबंधी जाइ जोइ तथा दूरवर्ती संकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढ़ावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जो केवल व्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक संज्ञा डरावन (न प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे संख्यावाचक विशेषण, (दोनों, चारो नहीं) आदि तत्त्व इस भाषा को व्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२७

2 नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृ० २६१।

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं।"[1] डा० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं :

१—मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हि० अलोचना० इति०, पृ० १२१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीना बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४—हजरत निज़ामुद्दीन चिश्ती जरजरीं बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं धाउँ पाउँ हजरत ख्वाजदीन
शकरगंज सुलतान मशायख महबूब इलाही
निज़ामुद्दीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाहीं

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्राय प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा संबंधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और व्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नहीं कहे जा सकते। अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरे, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक कोउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य संबंधी जोइ जोइ तथा दूरवर्ती संकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढ़ावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दीनो, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जो केवल व्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक संज्ञा डरावन (न प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे संख्यावाचक विशेषण, (दोनों, चारों नहीं) आदि तत्व इस भाषा को व्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२०

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृ० २६१।

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाको डर डरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरग सेना अगाध ज्यों गुन त्यों चतु विद्याधर आप
आय राग भेद गायो।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे। हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं। रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अलन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है। कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं।

१—अत गत मत्र गम नम गम मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि की लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया
उदध चन्द्र धरो मन में अत गत मत्र गाइया
तड तक क्षुपण जुग लरे हत काल विरल अपार रे अधार दे धरु गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये उद्दयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साधै नाद सबद जाल कर थोक गावै।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै॥
सो पचन मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव।
देहो मोय विद्या कर कठ पाठ॥
भैरव मालकोस हिंडाल दीपक श्रामेघ मूर्तिवत।
हृदय रहे ठाठ॥
सप्त स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना बाइस सुर्तें,
उनचास कोट ताल लाग ढाट।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट॥

बैजू बावरा

§ २४३. बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एव निजधरी कथाओं से आवृत्त है। गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है। कहा जाता है कि बैजू बावरा से सगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की ख्याति ज्यों ज्यों बढने लगी उनमें अहंभावना भी बढने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए। बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर ढूँढते रहे। अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की भेंट हुई। अलाउद्दीन

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों डर डरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अगाध जहाँ गुन ठयो चतु विद्याधर आप
आय राग भेद गायो।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे। हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुममें मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं। रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है। कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं।

१—अत गत मत्र गम नम गम मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि की लै सन्तो लै मकरन्द आइया
उदध चन्द्र धरी मन में अत गत मत्र गाइया
तड तक क्षुपण जुग लरे हत काल विरत अपार रे अधार दे धरु गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये उइयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साधै नाद सवद जाल कर थोक गावै।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै॥
मो पवन मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवे ध्यान लगावै।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध अगउ मध पावै॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव।
देहो मोय विद्या कर कठ पाठ॥
भैरव मालकोस हिंडाल दीपक श्रीमेघ मूर्तिवत।
हृदय रहे ठाठ॥
सप्त स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना बाइस सुतं,
उनचास कोट ताल लाग डाट।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट॥

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एवं किंवदन्ती कथाओं से आवृत्त है। गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है। कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की ख्याति ज्यों ज्यों बढने लगी उनमें अहंभावना भी बढने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए। बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर ढूँढते रहे। अलाउद्दीन के दरबार में दोनों की भेंट हुई। अलाउद्दीन

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और वर्ण फकीरुल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अकबरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद संगृहीत थे।[1] हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे। मानकुतूहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।[2]

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें' में एकत्र संकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—आगन भीर भई ब्रजपति के आज नंद महोत्सव आनन्द भयो
हरद दूब दधि अछत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रंग ठयो
धन धन बैजू सतन हित प्रकट नंद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहूँ उन बिन मन जरो जात है अगन बातें कर मन कियो है बिगार
वह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहें घर द्वार
इत उत देखत कछू न सोहावत विरया लगत ससार
वैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो है व्यौहार।

३—बोलियो न ढोलियो ले आऊँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर अबहींपै जाऊँ हूँ
मानिना मनाय के तिहारे पास स्याम के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत पती रार
मदन दारत पार चलत पततुआऊँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सों बहियाँ गहाऊँ हूँ

बैजू बावरा की रचनायें केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ संवत् में मीर अब्दुल वाहिद बिल्ग्रामी ने फारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ब्लेडविन . आईने अकबरी, पृ० ७३०
२. मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १२२

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और कर्ण फकीरुल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अकबरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा संग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रुचि के अनुसार पद संगृहीत थे।[1] हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे। मानकुतूहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।[2]

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें' में एकत्र संकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—आगन भोर भई ब्रजपति के आज नंद महोत्सव आनन्द भयो
हरद दूब दधि अच्छत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित बिमानन पुष्प बरस रंग छयो
धन धन बैजू सतन हित प्रकट नंद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहूँ उन बिन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है बिगार
वह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहे घर द्वार
इत उत देखत कछू न सोहावत बिरथा लगत संसार
बैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो हैं ब्योहार।

३—बोलियो न डोलियो ले आऊँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर अबहीं पैं जाऊँ हूँ
मानिनी मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाऊँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत एतो रार
मदन डारत मार चलत पततुभाऊँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाऊँ हूँ

बैजू बावरा की रचनाये केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ संवत् में मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने फारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

---

१. ग्लैडविन . आईने अकबरी, पृ० ७३०
२. मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १२२

(१६) तुम्ह कारन मैं सेज सँवारी
तन मन जोवन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
(१७) नन्द-नन्द पात जो आँवलो सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखौं बालमा नियरै बसैं कि दूर (पृष्ठ ६५)
(१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खडो गलबाहिं
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहिं (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारों में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः व्रजभाषा के बोल ही गाते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन व्रजभाषा की रचनायें संकलित हैं जो सूरदास से पहले की व्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के गहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अवधी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि व्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। व्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अमिट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : 'क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।' गेसूदराज ने कहा: हिन्दवी बडी ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।[1] जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब व्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के व्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'व्रजभाषा का रिक्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी व्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिक्थ को सपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

---

१. जमाने-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगंज—हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

(१६) तुम्ह कारन मैं सेज सँवारी
तन मन जोबन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
(१७) नन्द-नन्द पात जो आँवली सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखौं बालमा नियरैं बसैं कि दूर (पृष्ठ ६५)
(१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल लडो गलबाहिं
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहिं (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारों में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनायें संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अवधी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियों पर भी अपना अमिट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : 'क्या कारण है कि सूफियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।' गेसूदराज ने कहा: हिन्दवी बड़ी ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।'[1] जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिक्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिक्थ को सपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

---

१. जमाने-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगंज—हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में बरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा काव्य की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये बरगीत सन् १४८१-९३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।[1] डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पहला बरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के बरगीतों को ब्रजबुलि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी की मिश्रित भाषा में बरगीतों की रचना की।[2]

§ २४८. शंकरदेव के बरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं असमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति को आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बद्री हरिनारायण दत्त बरुआ द्वारा संपादित 'बरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

१—ध्रु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द।
हामु पापिनी पुनु पेखवो नाहि आर मोहि वदन अरविन्द॥
पद कवन भाग्यवती, भयो रे सुपरभात आजु भेटव मुख चाँदा।
उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु आन्धा॥
आजु मथुरा पुरे मिलन महोत्सव माधव माधव मान।
गोकुल के मंगल दूर गयो नाहि बाजत वेनु विषान॥
आजु उत नागरी करत नयन भरि मुख पंकज मधुपाना।
हमारि वन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना॥

धनश्री पद १८

२—ध्रु० मन मेरि राम चरनहि लागु।
तइ देख ना अन्तक आगु॥
पद मन आयू खने-खने टूटे।
देखो प्रान कौन दिन छूटे॥
मन काल अजगर गिले।
जान तिले के मरन मिले॥
मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इ सब विषय धन्धा।
केने देखि न देखत अन्धा॥

---

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख

२. असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० एन०, १९४१, पृ० २६।

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में बरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा काव्य की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये बरगीत सन् १४८१-९३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।[1] डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पहला बरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के बरगीतों को ब्रजबुलि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी को मिश्रित भाषा में बरगीतों की रचना की।'[2]

§ २४८. शंकरदेव के बरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं असमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आकर्षक रूप से मुखर दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद श्री हरिनारायण दत्त बरुआ द्वारा संपादित 'बरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

१—ध्रु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द।
हामु पापिनी पुनु पेखबो नाहिं आर मोहि बदन अरविन्द।
पद कवन भाग्यवती, भयो रे सुप्रभात आजु भेटन मुख चाँदा।
उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु भान्धा॥
आजु मथुरा पुरे मिलन महोत्सव माधव माधव मान।
गोकुल के मंगल दूर गयो नाहिं बाजत बेनु बिषान॥
आजु उत नागरी करत नयन भरि मुख पंकज मधुपाना।
हमारि वन्य विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस भाना॥

धनश्री पद १८

२—ध्रु० मन मेरि राम चरनहिं लागु।
तइ देख ना अन्तक आगु॥
पद मन आयू खने-खने टूटे।
देखो प्रान कौन दिन छूटे॥
मन काल अजगर गिलै।
जान तिले के मरन मिलै॥
मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इ सब विषय धन्धा।
केने देखि न देखत अन्धा॥

---

१. जर्नल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख

२. असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० एन०, १९४१, पृ० २६।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम आभास।
अतये कर्म को बन्ध छाँडि पावल वैकुण्ठ वास॥
जानि आहे लोक हरि को नामे करु विसवास।
सकल वेद को तत्व कहए पुरुख माधवदास॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पडती है। इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० § ६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पडता है। पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानों पर सबधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक सबध बहुत पुराना है। मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खडी बोली का जन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरभिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिलोचन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा[1] रचना का किंचित् सकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छद, हाथी घोडे आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पद्यों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनायें होने लगी थीं।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे।
पडि हिलोरे नयणे जो विधाय दण भाओ॥

---

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य
हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचद्र भालेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम आभास ।
अतये कर्म को बन्ध छाँडि पाउल वैकुण्ठ वास ॥
जानि आहे लोक हरि को नामे कर विसवास ।
सकल वेद कौ तत्व कहए पुरुख माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है । किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है । इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० § ६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है । पाउल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है । भाषा में कई स्थानों पर सम्बधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है । किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है ।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक सबध बहुत पुराना है । मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है । वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरभिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ । डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला । शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था । नामदेव और त्रिलोचन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं । नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है । ये कवि सूरदास के पहले के हैं ।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा[1] रचना का किंचित् सकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है । इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है । भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छद, हाथी घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं । लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है । इस पद को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनायें होने लगी थीं ।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे ।
पडि हिलोरे नयणे जो विधाय दण भरभो ॥

---

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य
हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५० ।

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवर्ती विकसित अपभ्रंश के फागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपों में बहुत सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध व्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने व्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि जूनागढ़ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल संवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त व्रजभाषा साहित्य को ही उल्टा पुल्टा करते थे।'[1] श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि व्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियो के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियो खंड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (व्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा व्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि व्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'[2] के रूप में सम्मानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमांत के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरब के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। संवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विट्ठलनाथ ने संवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।[3] किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

---

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के व्रजभाषी शुक पिक, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२ महाप्रभु वल्लभाचार्य व्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० १८४ हुआ मा वल्लभ मत नु धाम ज गुजरात थइ गयु

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवर्ता विकसित अपभ्रंश के फागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपों में बहुत सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने ब्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि जूनागढ़ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल संवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उल्टा पुल्टा करते थे।'[1] श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियो के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियो खंड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००–१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'[2] के रूप में सम्मानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमान्त के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरब के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। संवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोड़ा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के संस्थापक श्री विट्ठलनाथ ने संवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।[3] किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

---

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के ब्रजभाषी शुक पिक, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२ महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास', पृ० १८४
दुर्गा मा वल्लभ मत नु धाम ज गुजरात थई गयु

आन्दोल

नाचइ गोपिय वृंद, बाजइ मधुर मृदंग
मोडइ अंग सुरंग, सारंगधर वाहृति महूभरि ए॥
कुलवण महूभरि ए॥
करलिय पकज नाल, सिरवरि फेरइ बाल।
धुदिहि-बाजइ ताल, सारंग धर वाहइ महूभरि ए॥
तारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहि मुकुन्द॥
पणमइ सुर नर इंद, सारंगधर वाइति महूभरि ए।
कुलवण महूभरि ए॥
गोपी गोपति फागु कीडत हींडत वनइ मझारि।
मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि॥

§ २५२ सन् १६४६ में श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया।[1] सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है। भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ नो सौ वर्षो नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मा न होइ। उत्तरकाल में माटे ओटले के सं० १५५० १५६५ अथवा विक्रमनी १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सकै छे खरो।'[2] इस निष्कर्ष में स्पष्ट भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जी भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है। भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री इ० द० काँगवाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भार्या को भालण के मकान से एक खडित जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'सवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोचौणां एव जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदो ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है।[3] काँगवाला का अनुमान है कि १४६१ सवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकाड रचा था जो सवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था। इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। श्री भार्या ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज सीताराम और भालण सवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे। भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुंडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है। इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'सवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थ रत्नादित्य पूर्वी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बबई, ११ नवबर, १६४६ का अंक
२ वही, पृ० ८।
३ भालण कृत दशमस्कद-कविचरित्र, पृ० २, सन् १६१४, बड़ौदा

आन्दोल

नाचइ गोपिय वृंद, बाजइ मधुर मृदंग
मोडइ अंग सुरंग, सारंगधर वाइति महुअरि ए ॥
कुलवण महुअरि ए ॥
करलिय पंकज नाल, सिरवरि फेरइ बाल।
घुंदिहि-बाजइ ताल, सारंग धर वाइइ महुअरि ए ॥
तारा मांहि जिमि चन्द, गोपिय मांहि मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इंद, सारंगधर वाइति महुअरि ए।
कुलवण महुअरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीडत हींडत वनइ मझारि।
मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि ॥

§ २५२ सन् १९४९ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया।[1] सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है। भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ नो सौ वर्षो नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मा न होइ। उत्तरकाल में माटे श्रेटले के सं० १५५० १५६५ अथवा विक्रमनी १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सकै छे खरो।'[2] इस निष्कर्ष में स्पष्ट भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जी भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है। भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री ह० द० काँगवाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भार्या को भालण के मकान से एक खडित जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'सवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है।[3] काँगवाला का अनुमान है कि १४६१ सवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो सवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था। इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। श्री भार्या ने दिशावाल ज्ञाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण सवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे। भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुंडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है। इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'सवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थं रत्नादित्य पूवी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बबई, ११ नवबर, १९४९ का अक
२ वही, पृ० ८।
३ भालण कृत दशमस्कद-कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१५, बड़ौदा

चित्त में वे जु कुभी रही है चोर चोर कहेत है गाम ॥
निश दिन फीरतो जु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन बधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुंजाफल ले ले वेख बनावत रचिर ल्लाम ।
भालण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥
पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारग

कहो मैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कौन में जाउं ॥
नाहिन गृहे वे प्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति वल्लभ जा कारन हु गौ चराउ ॥
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृक्ष दोउ जा कारन हुं आप बधाउं ॥
नाहिन प्रेम तेमो कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
भालण को उस सौ कछु नाहीं अहियां के आगे प्रज के गुन गाउं ॥
पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पढबे को आयो दिन ।
एते वास बढ़े गने नाहीं कीडा कीनी नंद भुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन छुग जीवन
अहि बाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वन्दावन
हम पर प्रीति नाहिंन मोहन की जैसो प्रज ऊपर है मन
काहा कुमति आनक दुंदुभि की पठव रहीं सांवर घन
पाछे आये को कहाँ आरा राम संग चले पीत बसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे भवनों लोक सवधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालण जन
पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ॥
सर्दीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में पात ।
बहोत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरदक्षना मागी आन दीयो विख्यात ।
करवट सुत कने बधे हे मेरे जेष्ट तिहारे भ्रात ॥

चित्त में ते जु छुभी रही है चोर चोर कहेत है नाम ॥
निश दिन फीरतो जु सुरभि के संगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन बंधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
मोर पिच्छ गुंजाफल ले ले वेश बनावत रचिर ललाम ।
भालण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००–२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन संग कौन में जाउं ॥
नाहिन गृहे वे ब्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति वल्लभ जा कारन हु गौ चराउ ॥
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृक्ष दोउ जा कारन हुं भाप बधाउं ॥
नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
भालण को उस सी कछु नाहीं अहियां के आगे ब्रज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पडवे को आयो दिन ।
एते वरस वहे गने नाहीं कोडा कोनीं नंद भुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन जुग जीवन
अहि वाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वन्दावन
हम पर प्रीति नाहिंन मोहन की जैसो ब्रज ऊपर है मन
काहा कुमति आनक दुंदुभि की पठव रहो सोवर घन
पाछे आये को कहाँ आग राम संग चले पीत वसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे अवनी लोक सवधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत हैं वे भालण जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर स्यामल गात ॥
सदीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में पात ।
वहोत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
तुम पे गुरदक्षिना मागी आन दीयो विख्यात ।
करवट सुन वमे बधे हे मेरे जेष्ट तिहारे भ्रात ॥

त्रोटक

लाज हमारी लोपी तुमही सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिर्‍यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सग आयो
अंजी अखिया कियो तुम अंजन कहे इय माता कोपी
छाडो सब चतुरी चतुराई, अरे अरे बाउरी गोपी

कारिका

कपट करो है तुम आगे, सेज सूवे नहीं जागे

त्रोटक

सेज सूवे नहि जागे, बाल्क आय बोलावे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लीनो चित चुराई चत्रभुज कहते कछु ना लागे
हम अवला ये धीर धरनिधर कपट करहो तुम आगे

पृ० १०१

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कवियो ने ब्रजभाषा में कवितायें कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु सूरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पडती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम सामयिक पडता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सक्षिप्त परिचय श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।[1]

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३–४०

त्रोटक

लाज हमारी लोपी तुमही सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिर्यो गहन बन गोचर तहाँ तहाँ सग भायो
अंजी अखिया कियो तुम अंजन कहे हम माता कोपी
छाडो सब चतुरी चतुराई, अरे अरे बाउरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम भागे, सेज सूये नहीं जागे

त्रोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आप बोलावे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लीनो चित चुराई चत्रभुज कहते कछु ना लागे
हम अबला दे धीर धरनिधर कपट करही तुम भागे

पृ० १०१

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कविया ने ब्रजभाषा में कवितायें कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु सूरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पडती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम सामयिक पडता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सक्षिप्त परिचय श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।[1]



१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३–४०

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(रा० ल०वा०)
(११) छिताई वार्ता	,, १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,, १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	,, १५८४	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अगरचन्द नाहटा ने ब्रजभारती के (आश्विन अगहन, सवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएं दूर कर सकती है। इनमें प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमाब्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० ब्र० में आर्यभाषा के मध्यकालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियां सुरक्षित हैं। अपभ्रंश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पडता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नवीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अॅ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऍ, ऐ, ओ, ऑ औ।

पिंगल ब्रज में सध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे सयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपों में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पडते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ता विकास हैं।

प्राचीन ब्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होते हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अॅ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पडता है।

ब्रजभाषा में मध्य अॅ प्रायः और अन्त्य 'अॅ' का नियमित लोप होता है। (ब्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरभिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सभवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चाटुर्ज्या के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण असदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पडता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पडता है।

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी	१५५०	(रा० ल०वा०)
(११) छिताई वार्ता	,,	१५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,,	१५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	,,	१५८४	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अगरचन्द नाहटा ने व्रजभारती के (आश्विन अगहन, संवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएं दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन व्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमाब्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० व्र० में आर्यभाषा के मध्यकालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियां सुरक्षित हैं। अपभ्रंश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नवीन ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अॅ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, एॅ, ऐ, ओ, ओॅ औ।

पिंगल व्रज में सन्ध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे संयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सन्ध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपों में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ता विकास हैं।

प्राचीन व्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होते हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अॅ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

व्रजभाषा में मध्य अॅ प्रायः और अन्त्य 'अॅ' का नियमित लोप होता है। (व्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्भवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चाटुर्ज्या के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण अतदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

§ २६३. मध्यग इ का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है।

गोयन्द (प्र० क० २६४। १<गोविन्द) मानस्यघ (गी० भा० ६<मानसिंह) च्यते (पं० वे० २६<चिंतइ)। कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ>य का आगम। 'बोल्यउ' में 'य' बोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है। उसी तरह सहारण शब्द § २५८ के अनुसार सिंहारण और फिर स्यघारण (ल० प० क० ७१) हो गया।

§ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्वृत्त स्वर से सन्ध्यक्षर रूप में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी। प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। जिनमें उद्वृत्त स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्यउ (ल० प० क० ५६।१>चल्यौ) ग्यारउ (छी० वा० ४।५>ग्यारौ) चउवारे (प्र० च० १६१।१>चौवारे) चउपास (प्र० च०>चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।२>चीन्है) चढिउ (प्र० च० ३।१>चढ्यौ) उदीठई (प्र० च० ४०३।१>उदीठै) एतउ (ल० प० क० १३।१>एतौ) कइमास (रा० स० ३>कैमास) कहइ (रा० बा० १>कहै) करउ (प्र० क० ८।१>करौ) लयइ (छी० वा० ६।४>लयै) गहइ (छी० वा० ६।६>गहै) दीघउ (ल० प० क०>दीघौ) दिखावइ (छि० वा० १३३>दिखावै) घरई (स्वर्ग०>घरै) नीसरइ (ल० प० क० २।१>नीसरै) मनइ (स्वर्ग०>मनै)। इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा दिखाई पड़ती है। यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है। किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्वृत स्वरों के स्थान पर सन्ध्यक्षरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। बल्कि गणना करने पर सन्ध्यक्षरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं। नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अपभ्रंश रूपों के साथ दिये जाते हैं। आनीयो (ल० प० क० ५८।२<आनीयउ) उपज्यो (गी० भा० ४१<उपजउ) औगुन (प० वे०<अउगुण<अवगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५< कइमासहिं) कौ (स्व०< कउ) सकै (रु० मं०<सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१<गणउ) चौपही (वे० प०<चउपई) चौगुनी (गी० भा० १३<चउगुणी) चौक (प्र० क० २६५।१<चउक्क<चतुष्क) चरियौ (प० वे० ३३<चरियउ) दीसै (प्र० क० १२।२<दीसइ) नाच्यो(प० वे० १०<नच्चउ) पहिरो (छि० वा० १३५<पहिरउ) आदि।

§ २६५. स्वर संकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है। प्राचीन ब्रज में स्वर-संकोच कई प्रकार से हुआ है।

(१) अउ>उ

कुण (रा० ल० २६<कउण<कवण) जदुराय (गी० भा० २६<जादउराय <यादवराय) दीउ (ल० प० क०<दियउ)

(२) इअ>ई।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ<आहारिक) अपनाई (रु० मं० <अपनाइअ<आत्मनः+कृत) करी (रु० मं०<करिय<*करित=कृत) दीठी (ल० प० क०<दिट्ठिअ<*दृष्टित=दृष्ट) भई (छी० वा०<भइअ

§ २६३. मध्यग इ का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है।

गोयन्द (प्र० क० २६४। १<गोविन्द) मानस्यघ (गी० भा० ६<मानसिंह) च्यते (पं० वे० २६<चिंतइ)। कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ>य का आगम। 'बोल्यउ' में 'य' बोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है। उसी तरह सहारण शब्द § २५८ के अनुसार सिंहारण और फिर सघारण (ल० प० क० ७१) हो गया।

§ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्वृत्त स्वर से सन्ध्यक्षर रूप में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी। प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। जिनमें उद्वृत्त स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्यउ (ल० प० क० ५६।१>चल्यौ) च्यारउ (छी० वा० ४।५>च्यारौ) चउवारे (प्र० च० १६१।१>चौवारे) चउपास (प्र० च०>चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।३>चीन्है) चढिउ (प्र० च० ३।१>चढ्यौ) उदीठई (प्र० च० ४०३।१>उदीठै) एतउ (ल० प० क० १३।१>एतौ) कइमास (रा० व० ३>कैमास) कहइ (रा० बा० १>कहै) करउ (प्र० क० ८।१>करौ) लयइ (छी० वा० ६।४>लयै) गहइ (छी० वा० ६।६>गहै) दीघउ (ल०प० क०>दीघौ) दिखावइ (छि० वा० १२२>दिखावै) घरई (स्वर्ग०>घरै) नीसरइ (ल०प०क० २।१>नीसरै) मनइ (स्वर्ग०>मनै)। इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा दिखाई पड़ती है। यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है। किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्वृत स्वरों के स्थान पर सन्ध्यक्षरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। बल्कि गणना करने पर सन्ध्यक्षरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं। नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अपभ्रंश रूपों के साथ दिये जाते हैं। आनीयो (ल० प० क० ५८।२<आनीयउ) उपज्यो (गी० भा० ४१<उपजउ) औगुन (प० वे०<अउगुण<अवगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५< कइमासहिं) कौ (स्व०< कउ) सकै (रु० मं०<सकइ) गम्यौ (गी० भा० ४१<गणउ) चौपही (वि० प०<चउपई) चौगुनी (गी० भा० १३<चउगुणी) चौक (प्र० क० २६५।१<चउक्क<चतुष्क) चमियौ (प० वे० २३<चमियउ) दीवै (प्र० क० १२।२<दीसइ) नाच्यौ(प० वे० १०<नचउ) पहिरौ (छि० वा० १३५<पहिरउ) आदि।

§ २६५. स्वर सकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है। प्राचीन ब्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है।

(१) अउ>उ

कुण (रा० ल० ३६<कउण<कवण) जदुराय (गी० भा० २६<जादवराय <यादवराय) दीउ (ल० प० क०<दियउ)

(२) इअ>ई।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ<आहारिक) अपनाई (रु० मं० <अपनाइअ<आत्मनः+कृत) करी (रु० मं०<करिय<*करित=कृत) दीठी (ल० प० क०<दिट्ठिअ<*दृष्टित=दृष्ट) भई (छी० वा०<भइअ

§ २६९ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

आँसु (प्र० च० १३६<अंसु प्रा० पैं०<अश्रु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८√हस्) करौंहि (७०६ प्र० च०√कृ) यहाँ तुक के कारण मोंहि के वजन पर संभवतः करांहि किया गया। चहुँदिसि (प्र० च० १८<चउदिसि, हश्रुति, <चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु०<श्वास) पुँछि (ह० पु०√प्रच्छ) साँपौ (प० वे० ५३<सर्प)।

§ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। वर्गीय अनुनासिकों के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के संदर्भ में डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बंगाली और बिहारी के निकट दिखाई पड़ती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति स्टडी § २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पड़ती है। उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहिं (३४।२३) माभं (१६।१६) वणिए (१४।२०) आदि दिए गए हैं। नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो०<कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ <आपण) सुजाण (छि० वा०<१२४<सुजाण<सुजान) कवलिय (प० वे० २६<कमल) अम्रित (गी० मा० २<अमृत) वाणिया (प्र० च० १८<वणिक्) जाणायो (प्र० च० १८< जाणीयउ√ज्ञा) कुंवर (प्र० च० १२६<कुमार) बाण (प्र० च० ४०२<बाण) पराण (प्र० च० ४०३<प्राण) काणि (प्र० च० ४०२=कानि) पाणि (प्र० च० ४०२<पाणि) सुणाव (ह० पु०<सुणाउ) जाम (ल० प० क० ६<यावत्)।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्रायः अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे। पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए ग्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पादान्त 'उं', 'हुँ' या 'हं' इत्यादि के अनुस्वार प्रायः ह्रस्व उच्चरित होते थे। डा० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा को अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई। यहाँ पर पदान्त अनुस्वार निश्चय ही अनुनासिक हैं। इसीलिए प्रायः, इन्हें चन्द्र बिंदु से व्यक्त किया जाता है। हस्तलेखों में चन्द्रबिंदु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए यहाँ बिंदु ही दिया गया है, पर ये हैं अनुनासिक ही। यथा—

जियउं (प्र० च० १३७) हरउं, परउं (प्र० च० १३८) अवतरिउं (प्र० च० ७०५) पाऊं (रु० म०) ल्हहुँ (स० रो०) मनावें (वै० प०) दाहिं (वै० प०) ताईं (प०वे० २०) तैसें (गी० मा० ३०) सघरों, करों (गी० मा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं।

§ २६९ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

आँसु (प्र० च० १३६ <अनु प्रा० पैं० <अश्रु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८√ हस्) करौंहि (७०६ प्र० च०√ कृ) यहाँ तुक के कारण मोहि के वजन पर सम्भवत कराहि किया गया। चहुँदिसि (प्र० च० १८ <चउदिसि, इश्रुति, <चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु० <श्वास) पुँछि (ह० पु०√ प्रच्छ) साँपी (प० वे० ५३ <सर्प)।

§ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। वर्गीय अनुनासिकों के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सदर्भ में डा० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बगाली और विहारी के निकट दिखाई पडती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, *उक्तिव्यक्ति स्टडी § २१*) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पडती है। उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहि (३४।२३) माफ (३६।१६) वणिए (१४।२०) आदि दिए गए हैं। नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो० <कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ <आपण) सुजाण (छि० वा० <१२४ <सुजाण <सुज्ञान) कवलिय (प० वे० २६ <कमल) अम्रति (गी० भा० २ <अमृत) वाणिया (प्र० च० १८ <वणिक) जाणायो (प्र० च० १८ <जाणीयउ√ ज्ञा) कुंवर (प्र० च० १२६ <कुमार) वाण (प्र० च० ४०२ <वाण) पराण (प्र० च० ४०३ <प्राण) काणि (प्र० च० ४०२ =कानि) पाणि (प्र० च० ४०२ <पाणि) सुणाव (ह० पु० <सुणाउ) जाम (ल० प० क० ६ <यावत्)।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्राय अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे। पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए ग्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पादान्त 'उं', 'हुँ' या 'हं' इत्यादि ने अनुस्वार प्राय ह्रस्व उच्चरित होते थे। डा० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा ने अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई। यहाँ पर पदान्त अनुस्वार निश्चय ही अनुनासिक हैं। इसीलिए प्राय, इन्हें चन्द्र बिंदु से व्यक्त किया जाता है। हस्तलेखों में चन्द्रबिंदु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए यहाँ बिंदु ही दिया गया है, पर ये है अनुनासिक ही। यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अवतरिउ (प्र० च० ७०५) पाउ (रु० म०) ल्हहुँ (स० रो०) मनावें (वै० प०) हाहिं (वै० प०) ताइं (प०वे० २०) तैसें (गी० भा० ३०) सघरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ *खडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) वीरा (वि० प० <ब्रीडा <वीटिका) बोरे (वि० प० जोड़े) थोरो (वै० पु० <थोडइ <स्तोक) करोर (गी० भा० १ <करोड <कोटि)।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वे० ४ <परिखा)।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४ <रावल <राजकुल) आरसु (म० क० ७ <आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ <हिमालय) भुवारा (स्व० रो० ५ <भूपाल) जारू (गी० भा० २५ <जाल) रखवारू (गी० भा० ३६ <रखपाल <रक्षपाल)।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६)।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु० <दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६ <ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ <उल्लास) मेल्है (ह० पु० <मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) घल्ह (पं० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता। मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलबत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है। १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को संयुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं। (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८)।

§ २७७ मध्यग क कई स्थलों पर ग हो गया है।

अनेग (रा० ल० ३६ <अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ <इक्कुणीस <एकोन विंशति) उपगार (छी० वा० <उपकार) कातिग (पं० वे० ७१ <कातिक <कार्तिक) धुगु ध्रगु (ह० पु० <धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४ <प्रकट) मुगति (छी० वा० १८।५ <मुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६ <मरक्त)।

§ २७८. क्ष का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है।

क्ष <छ

नछत्र (प्र० च० ११ <नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५ <यक्ष) छत्री (प्र० च० ४०८ <क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ <प्रत्यक्ष)

क्ष <ख

खत्तिय (छि० वा० ३१ <क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ <क्षान्ति) रखपाल्ण (प० वे० १६८ <रक्षपाल) रुख (म० क० ७।१ <वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ <लक्षणावती। कुछ शब्दों में क्ष, का ष रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी ष का उच्चारण ख ही होता है।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत) त्य का च रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। चर्चकुसह

र ड—लरी (प्र० च० १३६ <लडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्‌यो (ह० पु० पड्यो) बीरा (वै० प० <बीडा <वीटिका) जोरे (वै० प० जोड़े) थोरो (वै० पु० <थोडइ <स्तोक) करोर (गी० भा० १ <करोड <कोटि)।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वै० ४ <परिखा)।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४ <रावल <राजकुल) आरसु (म० क० ७ <आलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ <हिमालय) भुवारा (स्व० रो० ५ <भूपाल) जारू (गी० भा० २५ <जाल) रखवारू (गी० भा० ३६ <रखपाल <रक्षपाल)।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६)।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु० <दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वै० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६ <ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ <उल्लास) मेल्है (ह० पु० <मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) मल्ह (पं० वै० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता। मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलबत्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है। १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को संयुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं। (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८)।

§ २७७ मध्यग क कई स्थलों पर ग हो गया है।

अनेग (रा० ल० ३६ <अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ <इकुणीस <एकोन विंशति) उपगार (छी० वा० <उपकार) कातिग (पं० वै० ७१ <कातिक <कार्तिक) धुगु ध्रगु (ह० पु० <धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४ <प्रकट) मुगति (छी० वा० १८।५ <मुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत)।

§ २७८. क्ष का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है।

क्ष <छ

नछत्र (प्र० च० ११ <नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५ <यक्ष) छत्री (प्र० च० ४०८ <क्षत्रिय) पतच्छि (प्र० च० ४१०।१ <प्रत्यक्ष)

क्ष <ख

खत्रिय (छि० वा० ३१ <क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ <क्षान्ति) रखवालण (प० वै० १६८ <रक्षपाल) रुख (म० क० ७।१ <वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ <लक्षणावती। कुछ शब्दों में क्ष, का ष रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी क्ष का उच्चारण ख ही होता है।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत) त का च रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। चर्त्तकुसद

§ २८३. ध्य का झ रूपान्तर—अपभ्रंश की तरह ही ध्य का झ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य>झ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की व्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरम्भिक व्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए झावहिं (प्र० च० ७०६<ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जुझ (सत्ता म० क० २<जुज्झ<युध्य)।

§ २८४ मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण<*त्रोटति पिशेल § ४८६)
जड़े (प्र० च० १६<जटित)
सक्डु (छी वा० १०<सकट)
घडन (छी० वा० १३<घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१६८)।

§ २८५. त्स>छ : त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरम्भिक व्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स>छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उछग (ह० पुराण<उच्छग<उत्सग) मछि (प० वे० १६<मच्छ<मत्स्य)।

§ २८६. स्त>थ-परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६<स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७<हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बाटा है। यह वर्गीकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यंजन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तबोर (गी० भा० २१<ताम्बूल)
सहू (ल० प० क० ३<अप० साहू<शश्वत्, पिशेल § ६४)
कुरवा (गी० भा० ५६<कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५<कवँल<कमल)
भँवर (प० वे० २५<भवँर<भ्रमर)
कुँवर (ह० पु०<कुवँर<कुमार)
अँक्वार (ह० पुराण<अकवाँर<अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीछति (स्व० पर्व०<परीक्षित)
(२) सिमरों (गी० भा०<समिरउँ<स्मृ)
(३) पचाजनतु (गी० भा० ४३<पान्चजन्य)

§ २८३. ध्य का झ रूपान्तर–अपभ्रंश की तरह ही ध्य का झ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य>झ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की ब्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरभिक ब्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए झावहिं (प्र० च० ७०६<ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जुझ (सत्ता म० क० २<जुज्झ<युध्य)।

§ २८४ मध्यग ट का ड मे परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण<*त्रोटति पिशेल § ४८६)
जडे (प्र० च० १६<जटित)
सकडु (छी वा० १०<सकट)
घडन (छी० वा० १३<घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१९८)।

§ २८५. त्स>छ : त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरभिक ब्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स>छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उछग (ह० पुराण<उच्छग<उत्सग) मछि (प० वे० १६<मच्छ<मत्स्य)।

§ २८६. स्त>थ–परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६<स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७<हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरी ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बाटा है। यह वर्गीकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यंजन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तबोर (गी० भा० २१<ताम्बूल)
सहू (ल० प० क० ३<अप० साहू<शश्वत्, पिशेल § ६४)
कुरवा (गी० भा० ५६<कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५<कवँल<कमल)
भँवर (प० वे० २५<भवँर<भ्रमर)
कुँवर (ह० पु०<कुवँर<कुमार)
अँक्वार (ह० पुराण<अक्वाँर<अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परीछति (स्व० पर्व०<परीक्षित)
(२) सिमरौं (गी० भा०<समिरउँ<स्मृ)
(३) पचाजनतु (गी० भा० ४३<पाचजन्य)

(३) इंद्रिन औगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिया औगुन भरी है।
(४) सखनि पूरन लगे (गी० भा० ४५) सखो से भरने लगे।

विभक्ति

§२९१ अधिकांशतः परवर्ता ब्रज की तरह आरंभिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म हिं

(१) तिन्हहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
(२) कैमासहिं अहमिति हाइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
(३) तिन्हहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण हिं 'ए'

(१) दीउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

षष्ठी 'ह'

(१) वणह मझारि (प्र० च० १३७)
(२) वद्मह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हिं', 'इ', ऐं

कुरुखेतहि (स्न० ३) मनहिं लगाइ (छि० याता १२८)
मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)
राषलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अरतरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§२९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज म उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हौं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मइँ का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउ मतिहीन म लावउ खोरि (प्र० च० ७०२)
(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
(३) हौं न घाउ घालौं (गी० भा० ५६)
(४) फ़ुरमान मइँ दीउगा (रा० वार्ता ४६)
(५) पूर्व म मइँ कादउँ कियउ (प्र० च० १३६)
(६) कि मइँ पुरुष विछोहो नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रज भाषा की आरंभिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइ (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवर्ता रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

(३) इंद्रिन औगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिया औगुन भरी है।
(४) सखनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) सखों से भरने लगे।

विभक्ति

§ २९१ अधिकांशतः परवर्ता ब्रज की तरह आरंभिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म हिं

(१) तिनहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
(२) कैमासहिं अहमिति होइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
(३) तिनहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण हिं 'ए'

(१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
(३) अर्धचंद्र तिहिं साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

षष्ठी 'ह'

(१) वणह मझारि (प्र० च० १३७)
(२) पदुमह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हिं', 'इ', ऍं

कुरुखेतहि (स्व० ३) मनहिं लगाइ (छि० वार्ता १२८)
मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)
रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहि अन्तरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज म उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हौं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रंश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मइँ का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

(१) हउ मतिहीन म लावउ खारि (प्र० च० ७०२)
(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
(३) हौं न घाउ घाल्लौं (गी० भा० ५६)
(४) फुरमान मइँ दीउगा (रा० वार्ता ४६)
(५) पूर्वज म मइँ काइउँ कियउ (प्र० च० १३६)
(६) कि मइँ पुरुष विछोहो नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रज भाषा की आरंभिक रचनाओं में अपभ्रंश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइ (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवर्ता रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मह्केरो रूप से मानते हैं।[1]

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं।

(१) हम तुम बयो नरायन देव (ह० पु०)
(२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
(३) ए सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)
(४) इन मारै हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है। हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं। हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<सं०*अस्मे से किया जाता है। हमारी आदि रूप महकारो<सं० *अस्मत्कार्यक- से विकसित हो सकते हैं। (देखिये तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४)।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं। मूल रूप तुम, तूँ हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<संस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है।

(१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)
(२) जसु रासगहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)
(३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)
(४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहिं आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो विणु असरन को सरण (छी० वा० ३।६)
(२) तो बिनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)
(३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
(४) तोहि बिनु मो जग पालट भयौ (ह० पुराण)
(५) तेहि बिनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं। तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहुँ <*तुम्ने से सम्भव है। (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं। 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है। तो मन की जानत नहीं। आदि।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

(१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
(२) न्याय गहभत्तण तेरउ (छी० वा० १७)
(३) साथ तुम्हारे चलिहौ राई (स्व० प०)
(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

---

1. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २१२

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मह्केरो रूप से मानते हैं।[1]

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं।

(१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)
(२) हमार राजा पै बस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
(३) ए सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)
(४) इन मारै हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है। हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं। हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<स०*अस्मे से किया जाता है। हमारी आदि रूप मह्कारो<स० *अस्मत्कार्यक- से विकसित हो सकते हैं। (देखिये तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४)।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं। मूल रूप तुम, तूँ हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<संस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है।

(१) अब यह बात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)
(२) जसु रासगहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)
(३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)
(४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहिं आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो विणु अवरन की सरण (छी० वा० ३।६)
(२) तो विनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)
(३) तो सम नारी छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
(४) तोहिं बिनु मो जग पालट भयौ (ह० पुराण)
(५) तोहि बिनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं। तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहुँ <*तुष्मे से सम्भव है। (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं। 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है। तो मन की जानत नहीं। आदि।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

(१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
(२) न्याय गरुअतण तेरउ (छी० वा० १७)
(३) साथ तुम्हारे चलिहौ राई (स्व० प०)
(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २६२

(२) तेइ घणी सही तिस भूषा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोयी (प० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तधि*>तहि>तइ>तेइ का रूपान्तर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६०) तिहि तहि का ही रूप है।

§ २९९ ता, ताकों आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताकों रूप न सकौं वखानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नंद (वै० प०)

(४) ता घर भान महामरु तिसै (गो० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' ब्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

३०० तासु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) भरि कागद मइ चिनो तिसी (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)

(३) नारद गिरि गो तिहि ठाई (प्र० च० २९)

(४) ताही को भावै वैराग (गो० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गो० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)

(७) तास चीन्हइ नहिं कोई (छी० वा० १)

सं० तस्य>अप० तस्स>तसु>तासु। तिसी, तासु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्यकालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३०१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगुता (प० वे० १२)

(२) तिन्ह मुनिष जनम विगूते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहुत (गो० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गो० भा० ५४)

तिन्ह और तिन रूप मूलतः वर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम्+हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से सम्बद्ध है।

विकारी रूप—

(१) ति इहि चरावति बाँह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे बँधिए सग्राम (गो० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गो० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात सु सज्जन भनै (गो० भा० ३२) सम्बन्ध

(२) तेइ घणी सही तिस भूपा (प० वे० ५)
(३) ते सुकृत सलिल समोयौ (प० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तथि* > तहि > तइ > तेइ का रूपांतर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६७) तिहि तहि का ही रूप है।

§ २९९ ता, ताकों आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)
(२) ताकौं रूप न सकौं बखानि (बै० पचीसी ३)
(३) ता मानिक सुत सुत को नंद (वै० प०)
(४) ता घर भान मशमरु तिसै (गी० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' ब्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से सकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

३०० तासु, तिसी, तिहि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संबंधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मइ चिनो तिसी (छि० वार्ता० १३५)
(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)
(३) नारद रिसि गो तिहि ठाई (प्र० च० २६)
(४) ताही को भावे वैराग (गी० भा० २२)
(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गी० भा० २०)
(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)
(७) तास चीन्हइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तस्स > तसु > तासु। तिसी, तासु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्यकालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३०१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (प० वे० १२)
(२) तिन्ह मुनिष जनम विगूते (प० वे० २४)
(३) कुटिल वचन तिन कहे बहुत (गी० भा० ३४)
(४) सास ससुर ते आहि अपार (गी० भा० ५४)

तिन्ह और तिन रूप मूलतः कर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम् + हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से सबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) ति हहि चरावति चौंह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म
(२) तैं कैसे बँधिए संग्राम (गी० भा० ५४) कर्म
(३) तिन समान दूजो नाहिं आन (गी० भा० ३०) करण
(४) तिन की बात सु सज्जय भनै (गी० भा० ३२) सम्बन्ध

(२) एह बेल न संभल्यौ आन (इ० पु० ६)

(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्व० रो०)

(४) इह रंभा कइ अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अपभ्रंश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एषः, एषा और एतद् बनते हैं (वै० लै० § ५६६) कभी कभी इह का संकुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रच्यो ऐसो (प० बे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज में भी होता था (देखिए ब्रजभाषा § १७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसर्गों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)

(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तैं समझै सार असार (गी० भा० २८)

(५) या ही लगि हौ सेवों (गी० भा० ५७)

§ ३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अस्य > प्रा० एअस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास § २६३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवें वसि राखे (पं० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीहल अकारण ए सरे (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० भा० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसर्गों का प्रयोग होता है—

(१) येघु इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)

(२) इन मारे त्रिभुवन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन में को है (छ० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम > एआण > एण्ह अप० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

§ ३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन–जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)

(२) जिनमें रोगी कुपथ जो करई (म० क० ३)

(२) एह बेल न संभल्यो आन (छ० पु० ६)

(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्व० रो०)

(४) इह रंभा कइ अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अपभ्रंश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ज्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एषः, एषा और एतद् बनते हैं (वै० लै० § ५६६) कभी कभी इह का सङ्कुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रच्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती व्रज में भी होता था (देखिए व्रजभाषा § १७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या व्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसर्गों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०२)

(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तैं समझै सारु असारु (गी० भा० २८)

(५) या ही लगि हौ सेवो (गी० भा० ५७)

§ ३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अस्य>प्रा० एअस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास § २६३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवं वसि राये (पं० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीहल अकारण ए सबै (छी० बा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत्>म० भा० एअ> ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसर्गों का प्रयोग होता है—

(१) पेषु इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)

(२) इन मारे त्रिभुवन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन मैं को है (छ० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम>एआण>एण्ह अप०>एन्ह>इन्ह>इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

§ ३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)

(२) तिनमें रोगी कुपथ जो करई (म० क० ३)

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरंभिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। संख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप—कहा, काहि।

(१) कहौ काहि अहु (छि० वार्ता ११३)

(२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)

(२) तुम बिनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)

(३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परवता ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

(१) मानत कहा न काहु की (स्व० रोहण ६)

(२) काहू करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

'किस्यो' रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का सशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस>किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

(१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

(१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)

(२) कछू न सूझे हिये मझार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनी आदि रूप

(१) तेउ राखि सके न आपणे (प्र० च० ४०६)

(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पुराण)

(३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)

(४) हौं न चिनै चाहौं आपौ (गी० भा० ५२)

(५) इन्द्री राखहु सबइ अप्प बसि (छी० वा० २)

(६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप संस्कृत आत्मन्>अप्पण>अप्प से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अप्पण (हेम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, अपनो आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहऊ निज मुक्त (छी० वा० १०)

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरभिक ब्रज मे मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणो में दिखाई पडते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप--कहा, काहि।

(१) कहौ काहि अहु (छि० वार्ता ११३)

(२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)

(२) तुम बिनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)

(३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पडता। परवता ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

(१) मानत कह्या न काहु की (स्व० रोहण ६)

(२) काहू करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

'किस्यो' रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खडीबोली के किस का सशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रश कस्स > किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

(१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयाग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पडता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

(१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)

(२) कछू न सूझै हिये मझार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनी आदि रूप

(१) तेउ राषि सकै न आपणे (प्र० च० ४०६)

(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पुराण)

(३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)

(४) हौं न बिजै चाहौं आपौं (गी० भा० ५२)

(५) इन्द्री राखहु सबइ अप्प वसि (छी० वा० २)

(६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप सस्कृत आत्मन् > अप्पण > अप्प से निर्मित हुए हैं। अपभ्रश में इसी का अप्पण (हेम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपण, अपनो आदि रूपा में विकसित हुआ।

करिहऊ निज सुक्त (छी० वा० १०)

(२) गीता ग्यान हीन नरु इसौ (गी० मा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि।

(१) कहमइ मान भग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे वरवीर (गी० मा० ५१)

(३) तिन्ह कौ कैसे सुनु पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) वैसे सन्त लेहु तुम जानि (गी० मा० ३)

(२) तो यह मोपै हूहै वैसें (गी० मा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा–

(१) कह्यो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० मा० ३०)

(२) सार माहि वनु जाण्यौ जिमो (गी० मा०)

यादृश > याईस > जइस > जैसा।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अपादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृदन्त। जिस संज्ञा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस संज्ञा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है। अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी। इनमें से तिर्डें या सौं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक व्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

कर्तृ परसर्ग—नैं

§ ३१४ कर्ता कारक में नैं का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है। यद्यपि यह संख्या अत्यल्प है।

(१) राजा नै आइस दीन्हौं (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए हैं। इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं। फिर भी ने का प्रयोग संदिग्ध है। कीर्तिलता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले। कीर्तिलता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्हे रूप में आते हैं। इस प्रकार संज्ञा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, कों, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० मा० २)

रावन को अवतरो (गी० मा० ५)

ताहीं को भावे वैराग (गी० मा०) सायर को तरै (गी० मा० २६)

(२) गीता ज्ञान हीन नरु इसौ (गी० मा० २०)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि।

(१) कइसइ मान मग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे बरवीर (गी० मा० ५१)

(३) तिन्ह कौ कैसे सुनु पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुम जानि (गी० मा० ३)

(२) तो यह मोरै हैहै तैसें (गी० मा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा—

(१) कह्यो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० मा० ३०)

(२) सार माहि चतु बाच्यौ जिनो (गी० मा०)

यादृश > याईस > जइस > जैसा।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अपादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृदन्त। जिस संज्ञा के साथ इनका प्रयोग होता है वे उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस संज्ञा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है। अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी। इनमें से तिउँ या सौं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ब्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश की तरह केवल द्योतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

कर्तृ परसर्ग—नैं

§ ३१४ कर्ता कारक में नैं का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है। यद्यपि यह संख्या अत्यल्प है।

(१) राजा नै आइस दीन्हों (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। ऊपर के उदाहरण राजो लछुमन वार्ता की वचनिकाओं से लिए गए हैं। इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं। फिर भी ने का प्रयोग संदिग्ध है। कीर्तिलता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले। कीर्तिलता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं। इस प्रकार संज्ञा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § ३३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, कों, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० मा० २)

राजन को अवतये (गी० मा० ५)

ताहीं को भावै वैराग (गी० मा०) सायर को तरै (गी० मा० २६)

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मज्झि, महि, मह, में वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तणी, तणउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)
तिम कउ अन्त (प्र० च० २) जोजण कौ विस्तारा (प्र० च० १५)
मीचु को ठाइ (प्र० च० ४०६) जनमेजय के रावनि (ह० पु० ५)
जाके चरन (ह० मं० २) भीषम नृप की लाडली (रु० म०)
चितइ चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणो (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः>प्रा० केरो>या केरक>अप० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बीम्स इनकी उत्पत्ति तन>तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलाग ने इसका विरोध किया। संज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा मालूम होता है।[1] इसीलिए डा० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की।*आत्मनक.>अप्पणउ>तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है।
अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०६)
मो पै होइहै तैसे (गी० भा० ३)
वेद व्यास पहि सुन्यौ (गी० भा० ६३)

संयुक्त—कभी कभी दो कारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।
जैसे— तिन को तैं अति सुख पाइये (रु० मंगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन ब्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन ब्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अपभ्रंश पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर वो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्त्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

वडी वार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (म० क०। विकट दन्त (वै० प० १) अनूप कथा (वै० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुघर जोवन (छि० वार्ता० १३६) कुनुवी

[1] ए ग्रामर आव द हिन्दी लैंग्वेज § ११४।

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मज्झि, महि, मह, में वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तणी, तणउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)
तिम कउ अन्त (प्र० च० २) जोजन कौ विस्तारा (प्र० च० १५)
मीचु को ठाइ (प्र० च० ४०६) जनमेजय के शक्ति (ह० पु० ५)
जाके चरन (रु० मं० २) भीषम नृप की लाडली (रु० म०)
चितइ चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणो (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः > प्रा० केरो > या केरक > अप० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बीम्स इनकी उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलाग ने इसका विरोध किया। संज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा मालूम होता है।[1] इसीलिए डा० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की। *आत्मनक. > अप्पणउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०६)
मो पै होइहै तैसे (गी० भा० ३)
वेद व्यास पहि सुन्यौ (गी० भा० ६३)

संयुक्त—कभी कभी दो कारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।
जैसे— तिन को तैं अति सुख पाइये (रु० मंगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन ब्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन ब्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अपभ्रंश पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्त्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बड़ी वार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाउँ (म० ५०। विकट दन्त (वै० प० १) अनूप कथा (वै० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुघर जोवन (छि० वार्ता० १३६) कुजुवी

[1] ए ग्रामर आव द हिन्दी लैंग्वेज § १६४।

१००—सौ (प्र० च० ११) से (ह० पुराण)
१०१—एकोतर सइ (ल० प० क० ११)
कोटि (म० क० २८६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक
१—प्रथम (छी० वा० १५)
२—दूजो (गी० भा० ११)
५—पंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग
८—अष्टमी (छी० वा० ५३)
६—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक
½ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृत्ति संख्यावाचक—
चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. ब्रजभाषा में संयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। ब्रजभाषा में √भू और √*अच्छ (अछई ल० प० क० ६ अहै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियायें होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हीं, होय, होहि (बहु)
कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)
होय थान (म० क० २६६) संबन्धी हैं (गी० भा० ५५)
होहिं, बहुवचन (वै० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय <अप० होइ <सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है। हैं रूप <अहइ <अछइ <*अस्ति से विकसित माना जाता है।

विधि आज्ञार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आज्ञार्थक में होते हैं। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी मे उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतोरी पु० राज० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७. हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

सो दादे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितरगणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मीचु को (प्र० च० ४०६) खंड द्वै भयऊ (स्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुआ उछाह (ल० प० क० ५।१) भई (छि० वार्ता १२७) भो जिमि खोर (छि० वार्ता

१००—सौ (प्र० च० ११) से (ह० पुराण)

१०१—एक़ोतर सइ (ल० प० क० ११)

कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक

१—प्रथम (छी० वा० १५)

२—दूजो (गी० भा० ११)

५—पंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग

८—अष्टमो (छी० वा० ५३)

९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक

½ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृति सख्यावाचक—

चौगुनो (गी० भा० १२)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. ब्रजभाषा में सयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। ब्रजभाषा में √ भू और √ *अच्छ (अछई ल० प० क० ६ अहै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियायें होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हैं, होय, होहि (बहु)

कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)

होय थान (म० क० २६६) संबन्धी हैं (गो० भा० ५५)

होहि, बहुवचन (वि० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय < अप० होइ < सं० भवति से बने हैं। होहि बहुवचन का रूप है। हैं रूप < अहइ < अछइ < *अछति से विकसित माना जाता है।

विधि आज्ञार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आज्ञार्थक में होते हैं। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी मे उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतोरी पु० राज० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७. हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

सो दादे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितरागि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ मीचु को (प्र० च० ४०६) खंड द्वे भयऊ (स्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुअ उछाह (ल० प० क० ५।१) भई (छि० वार्ता १२७) भौ जिमि खोर (छि० वार्ता

एकवचन—सोहइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) भीजइ (प्र० च० १३६) रोवइ (प्र० च० १३६) पाडै (ह० पु०) मुरै (ह० पु०) मेल्है (ह० पु०) बिनसै (म० क० १) करै (म० क० २६५) हींडइ (ल० प० क० ७) देवै (छि० वार्ता १२६) बजावइ (छि० वा० १३६)।

बहुवचन की क्रिया में हि विभक्ति अपभ्रंश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हिं विभक्ति सुरक्षित है। अहिं>अइं>ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहिं (गी० भा० ३८) गुजहिं (छी० वा० १७)
इ—लागइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देपइ (छि० वा० १२४) पीवइ (छी० वा० १०)।
ऐं—मनावैं (वै० प० २)
ऐं—रावैं (स्व० रो० ६) आवै (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था। संस्कृत अन्तक:>अप० अन्तउं>अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ। पठन्त>पठन्तउ> पठत पढती या पढनि। डा० तेसीतोरी का विचार है कि सम्भवतः अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यंजन दुर्बल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवहट्ठ में सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त>अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पड़ती है। बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए। कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यदि छन्द सुणन्तु (ह० पु० ३०)
(२) घोर पाप पीटन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवहट्ठ की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं। बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण—

(१) दुप सुख परत न दीठि (ह० म० १)
(२) देवी पूजन का वर मागत (ह० म०)
(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)
(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)
(५) तिन्हहिं चरावनि बाह उचाइ (छि० वार्ता १४२)
(६) आवति सपइ वार वार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में है। छीहल बावनी में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन्तउ हरिण (३)

एकवचन—सोहइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) मीजइ (प्र० च० १३६) रोवइ (प्र० च० १३६) फाटै (ह० पु०) झुरै (ह० पु०) मेल्है (ह० पु०) विनसै (म० क० १) करै (म० क० २६५) होइह (ल० प० क० ७) देपै (छि० वार्ता १२६) बजावइ (छि० वा० १३६)।

बहुवचन की क्रिया में हिं विभक्ति अपभ्रंश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हिं विभक्ति सुरक्षित है। अहिं>अइं>ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहिं (गी० भा० ३८) गुजहिं (छी० वा० १७)
इ—लागइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देपइ (छि० वा० १२४) पीवइ (छी० वा० १७)।
एँ—मनावैं (वै० प० २)
ऐं—राखैं (स्व० रो० ६) आवैं (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था। संस्कृत अन्तकः>अप० अन्तउं>अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ। पठन्त>पठन्तउ> पठत पढती या पढनि। डा० तेसीतोरी का विचार है कि सम्भवतः अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यंजन दुर्बल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवहट्ठ में सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त>अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पडती है। बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए। कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यदि छन्द सुगन्तु (ह० पु० ३०)
(२) घोर पाप पीटन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवहट्ठ की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं। बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण—

(१) दुष सुख परत न दीठि (रु० म० १)
(२) देवी पूजन कर वर मागत (रु० म०)
(३) मोहन महल्न करत विलास (विष्णुपद)
(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)
(५) तिन्हहिं चरावनि वाह उचाह (छि० वार्ता १४२)
(६) आवति सपइ वार वार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में हैं। छीहल बावनी में अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन ·· (३)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ २३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'व' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (प्र० च० २६४) रखन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) रालन (गी० मा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है।
चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिबे को (प्र० वार्ता ८) होइब (गी० मा० १६)
कहिबे (गी० मा० २७)।

§ २३७. भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

(१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
(२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
(३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
(४) कियौ कवीत (ह० पुराण ४)
(५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
(६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्रायः ये रूप एकवचन में उ, ओ, औ, औ कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ईं-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुंजिउ राज (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूढ़ अब पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये अजुत कीयउ घणो (छी० वा० १२)
यह बोल म संभल्यो आन (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

उकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'ब' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते है (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० मा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है।
चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'ब'—चलिबे को (ए० वार्ता ८) होइब (गी० मा० १६)
कहिबे (गी० मा० २७)।

§ ३३७. भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

(१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
(२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
(३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
(४) कियौ कवीत (ह० पुराण ४)
(५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
(६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्रायः ये रूप एकवचन में उ, ओ, औ, ओ कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ईं-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
गुंजिउ राव (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूढ अब पच तजि (छी० वा० १२)
मे भुगुत कीयउ घणो (छी० वा० १२)
एह बोल म संभल्यो आन (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

उकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।